काव्य में रस छन्द और अलंकार

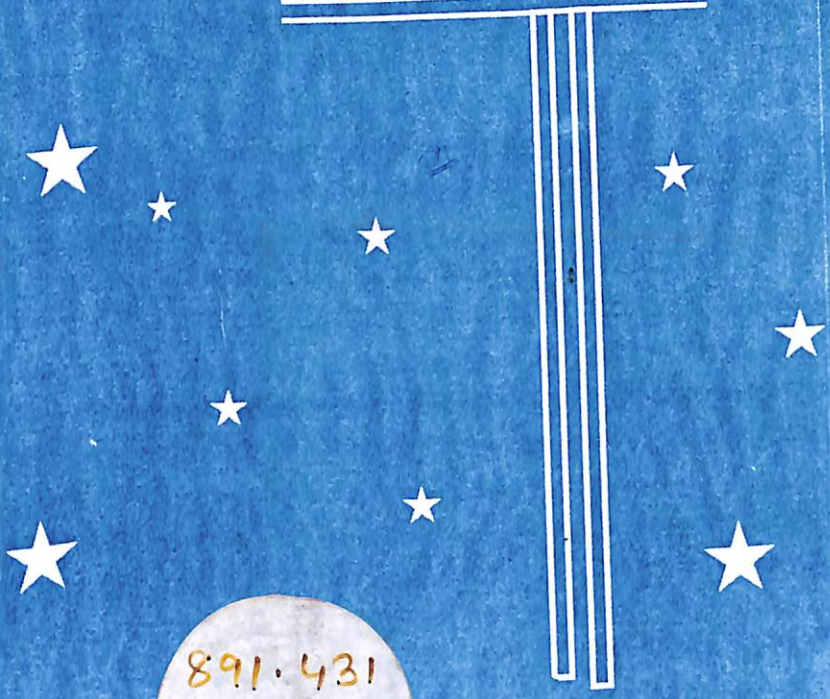

891.431
ISL

लेखक
सिकदार आनवारुल इसलाम

Acc. No. 7865
Class No. 891·431 Book No. ISL
Author S. A. Islam.
Title Kavya Mein Ras.

Borrower's No.	Due Date	Borrower's No.	Due Date

Acc. No. 7865

KHARUPETIA COLLEGE
LIBRARY
KHARUPETIA : DARRANG (ASSAM)

1. Books are issued for 15 days only.
2. Books may be renewed on request at the discretion of the Librarian.
3. Dog-earing the pages of a book, marking or writing therein with ink or pencil, tearing or taking out its pages or otherwise damaging it will constitute an injury to a book.
4. Any such injury to a book is a serious offence. Unless the borrower points out the injury at the time of borrowing the book, he/she shall be required to replace the book or pay its price.

HELP TO KEEP THIS BOOK FRESH & CLEAN

काव्य में रस छन्द और अलंकार

लेखक :
सिकदार आनवारुल इसलाम
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
खारुपेटीया महाविद्यालय
दरंग् (असम)

KHARUPETIA COLLEGE LIBRARY
Estd.- 1981
Date.....
7865
KHARUPETIA DARRANG : ASSAM

प्रकाशक :
असम हिन्दी प्रकाशन
केदार रोड, फैंसी बाजार
गुवाहाटी - ७८१००१, असम।

"KAVYA MEIN RAS CHANDA AUR ALANGKAR" *a Reference book of Hindi Poetics written by Sikdar Anowarul Islam, Head of the Department of Hindi, Kharupetia College, Published by Asom Hindi Prakashan, Guwahati-1, Assam.*

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान :

असम हिन्दी प्रकाशन
केदार रोड, फैंसी बाजार
गुवाहाटी-७८१००१, असम।

कॉपीराइट व आवरण :
लेखक

प्रथम संस्करण : २०११

891.431 — ISL
Him.

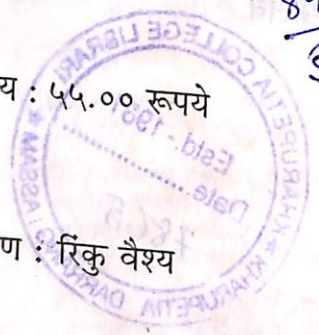

मूल्य : ५५.०० रूपये

टंकण : रिंकु वैश्य

मुद्रक : केलिग्राफी ऑफसेट
एस, सी, लॉज विल्डिंग्, मंगलदै

समर्पण

प्रिय माता एवं स्वर्गीय पिता को

7865

अपनी बात

विद्यार्थियों के लिए काव्यशास्त्र साधारणत : एक कठिन विषय है। छन्द, अलंकार, रस आदि ऐसा गूढ़ और शास्त्रीय विषय है कि विद्यार्थी इन्हें आसानी से समझ नहीं पाते। इन विषयों पर अनेक पुस्तकें तो उपलब्ध हैं, परन्तु मेरे अनुभव में यह आया है कि विद्यार्थी उनको समझने में कठिनाइयाँ महसूस करते हैं और आवश्यकतानुसार पर्याप्त सामग्री ढूँढ नहीं पाते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में अलंकार, छन्द और रस के उपरान्त काव्य के स्वरूप, काव्य में गुण तथा शब्दशक्ति पर भी सहज-सरल शब्दों में प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। मैंने इस पुस्तक की सामग्री कॉटन कॉलेज, गुवाहाटी में बि. ए. पढ़ने से लेकर गौहाटी विश्वविद्यालय से एम. ए. पास करने तक एवं लगभग १४ वर्षों से विद्यार्थियों को पढ़ाते रहने की अनुभव से संचय करते हुए प्रस्तुत किया है। सहजता, संक्षिप्तता, परिभाषा के साथ प्रेषणीय उदाहरण एवं उदाहरण का स्पष्टीकरण प्रस्तुत पुस्तक की मुख्य विशेषता है।

वस्तुत : पुस्तक की विषय-वस्तु छात्रोपयोगी और परीक्षापयोगी बनाने हेतु पर्याप्त श्रम किया गया है, ताकि यह पुस्तक विद्यार्थियों के आवश्यकताओं को पूर्ति कर सकें।

अंत में प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशक - असम हिन्दी प्रकाशन, गुवाहाटी, मुद्रक - केलिग्राफी ऑफसेट, मंगलदै के व्यवस्थापक श्रीरमेश डेका तथा टंकक - श्रीरिंकु वैश्य के प्रति मैं हार्दिक धन्यवाद ज्ञापन करता हूँ। पूरी सावधानी बरतने पर भी जो त्रुटियाँ प्रस्तुत पुस्तक में रह गयी हैं, उसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ। आगे विद्वत्जनों की सुझाव अपेक्षित है।

सिकदार आनवारुल इसलाम

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक का संस्करण देखकर मुझे हर्ष हो रहा है। काव्यशास्त्र के अन्तर्गत रस, छन्द, अलंकार आदि विषय साधारणत: छात्र-छात्राओं की रुचि के अनुकूल नहीं माना जाता है। लेखक ने इन शास्त्रीय विषयों को सरल एवं बोधगम्य भाषा-शैली में प्रस्तुत करके छात्रों के लिए बहुत सुविधा कर दी है। कहीं भी विषय का अनावश्यक व्याख्या नहीं है। छात्र परीक्षा में जितना लिख सकता है, उससे अधिक विस्तार कहीं भी नहीं है। बड़े ही नपे-तुले शब्दों में हर एक विषय का सफल स्पष्टीकरण इस पुस्तक की खास विशेषता है।

इस पुस्तक के लेखक ने अपने अनुभव, श्रम और योग्यता का चमत्कार पुस्तक - लेखन के रूप में प्रस्तुत किया है। प्रत्येक परिभाषा के साथ उदाहरण इतने मधुर एवं प्रेषणीय है कि छात्र आसानी से याद कर सकेंगे। मैं बिना किसी संकोच के कह सकता हूँ कि इस पुस्तक को अध्ययन करते समय छात्र अनुभव करेंगे कि वे कक्षा में सुयोग्य अध्यापक से ही अध्ययन कर रहे हैं। अत: छात्र वर्ग इस पुस्तक से अवश्य लाभान्वित होगा।

लेखक का इस प्रयास का सफलता शिक्षार्थी और अध्यापक पर निर्भर करता है। अगर वे लाभान्वित होते हैं तो लेखक का परिश्रम सार्थक होगा।

डॉ० परिमल कुमार दत्त
एम. ए. (डबल), एम. एड.,
पी एच. डी

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ संख्या
प्रथम अध्याय : काव्य के स्वरूप	
भूमिका	1
काव्य की परिभाषा	1
संस्कृत आचार्यों की परिभाषाएँ	1-3
पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषाएँ	3-4
हिन्दी विद्वानों की परिभाषाएँ	4-5
निष्कर्ष	5
द्वितीय अध्याय : अलंकार-निरूपण	
भूमिका	6
अलंकार की परिभाषाएँ और काव्य में इसका स्थान	6-8
अलंकारों के भेद : शब्दालंकार :	9
अनुप्रास, छेकानुप्रास, वृत्यानुप्रास, लाटानुप्रास,	9-10
श्रुत्यानुप्रास, अन्त्यानुप्रास	10-11
यमक	11
श्लेष	11
वक्रोक्ति :	11
श्लेष वक्रोक्ति, काकु वक्रोक्ति	12
पुनरुक्ति प्रकाश,	12
वीप्सा	13
अर्थालंकार :	13
उपमा - पूर्णोपमा, लुप्तोपमा	13
रूपक, उत्प्रेक्षा,	14
अतिशयोक्ति, अनन्वय,	14
अपह्नुति, उदाहरण,	15
दीपक, प्रतीप,	15
तुल्ययोगिता, तद्गुण,	16
अतद्गुण, व्यतिरेक	16-17
काव्यलिंग, संदेह,	17
भ्रांतिमान, परिसंख्या,	17-18
उल्लेख, विभावना,	18
विरोधाभास, विशेषोक्ति,	19
समासोक्ति, गुढ़ोक्ति,	19-20
अत्योक्ति, लोकोक्ति,	20
अर्थान्तरन्यास, मानवीकरण,	21
विशेषण-विपर्यय	21
उभयालंकार :	22
संकर, संसृष्टि	22
अलंकारों का पारस्परिक सम्बंध व भेद :	22
यमक और लाटानुप्रास	22
यमक और श्लेष	22
श्लेष और वक्रोक्ति	22
उपमा-रूपक-उत्प्रेक्षा	23
उपमा और व्यतिरेक	23
व्यतिरेक और प्रतीप	23
सन्देह और भ्रांतिमान	23

KHARUPETIA COLLEGE LIBRARY
Estd - 1931
Date.....
KHARUPETIA DARRANG : ASSAM

	विभावना और विशेषोक्ति	23
	उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति	24
	तद्गुण और अतद्गुण	24

तृतीय अध्याय : गुण

भूमिका		25
परिभाषा		25
गुण के भेद:	माधुर्यगुण	26
	ओजगुण	26
	प्रसादगुण	26

चौथा अध्याय : छन्द

भूमिका		27
छन्द और कविता का सम्बंध		27-29
छन्द की परिभाषा		29
मात्रा और वर्ण		30
मात्रा गिनने के कुछ नियम		30
यति, गति, तुक, चरण		30-31
गण		31
छन्दों के भेद		32
प्रमुख छन्दों का परिचय :		32
चौपाई, रोला, दोहा,		32-33
सोरठा, बरवै, उल्लाला,		33-34
गीतिका, हरिगीतिका, तांटक,		34-35
वीर या आल्हा, कुण्डलिया,		35-36

विषय		पृष्ठ संख्या
छप्पय, पध्दरि, इन्द्रवज्रा,		36-37
उपेन्द्रवज्रा, तोटक, भुजंगप्रयात,		38-39
वशंस्थ, द्रुतविलम्बित, वसन्ततिलका,		39-40
मन्दाक्रान्ता, शिखरिणी, मालिनी,		41
शार्दुलविक्रीड़ित, सवैया, मनहरणकवित्त,		42-43
रूप घनाक्षरी		43

पंचम अध्याय : रस

भूमिका		44
रस का स्वरूप		44
रस की परिभाषा		45
रस के अंग या तत्व-	स्थायी भाव	48
	विभाव	49
	अनुभाव	50
	संचारी भाव	50
रस-निष्पत्ति :	भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद	51-53
	श्रीशंकुक का अनुमितिवाद	54-55
	भट्ट नायक का भुक्तिवाद	55-56
	अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद	56-57
	निष्कर्ष	57

षष्ठ अध्याय : नव-रस विवेचन

भूमिका		58
श्रृंगार रस :	संयोग श्रृंगार,	58
	वियोग श्रृंगार	59
हास्य रस		59
करुण रस		60

विषय	पृष्ठ संख्या
रौद्र रस	61
वीर रस	62
भयानक रस	63
वीभत्स रस	63
अद्‌भुत रस	64
शांत रस	65
वात्सल्य रस	65-66
श्रृंगार रस रसराज क्यों	66-67

सप्तम अध्याय : शब्दशक्ति

भूमिका	68
अभिधा शब्दशक्ति	68
लक्षणा शब्दशक्ति	69-70
व्यंजना शब्दशक्ति	70-71
निष्कर्ष	72

प्रथम अध्याय

काव्य के स्वरूप/काव्य (कविता) क्या है

भूमिका : काव्य कवि की अक्षय अनुभूतियों का भंडार होता है। कवि इसके माध्यम से जीवन और जगत की विविध अनुभूतियों को अभिव्यक्त करता है। प्रत्येक सभ्य-समाज को विरेचित करने का महत्वपूर्ण कार्य करती है 'कविता'। इसी कारण इसे 'प्राणदायिनी-औषधि' भी कहा जा सकता है।

काव्य की एक ऐसी सर्वमान्य परिभाषा आजतक निश्चित नहीं हो पाई है- जिसके द्वारा काव्य का सर्वांगीन स्वरूप भविष्य के गर्भ में बिल्कुल स्पष्ट हो जाए। मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना के अनुसार विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से काव्य को परिभाषित करने की चेष्टा की हैं। संस्कृत-आचार्यों, पाश्चात्य विद्वानों तथा हिन्दी के विद्वानों ने काव्य की परिभाषा देते समय उसके स्वरूप को स्पष्ट किया है। यहाँ हम कुछ प्रमुख विद्वानों की परिभाषा देते हुए निर्णायक परिभाषा तक पहुँचने का प्रयास करेंगे-

काव्य की परिभाषा

संस्कृत आचार्यों की परिभाषाएँ :

आचार्य भामह की कथन है - 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'। अर्थात शब्द के साथ अर्थ का संयोग ही काव्य कहलाता है। लेकिन यह परिभाषा अतिव्याप्ति दोष से दोषित है। इसके द्वारा काव्य के स्वरूप का स्पष्टीकरण नहीं होता है। शब्द और अर्थयुक्त इतिहास, धर्म, दर्शन आदि कुछ भी हो सकती है। अत: भामह की परिभाषा से-काव्य क्या है ?-समझ में नहीं आता है।

आचार्य दण्डी ने अभीष्ट अर्थ से युक्त पदावली को काव्य कहा है-

'इष्टार्थ व्यावच्छिन्ना पदावली'।

दण्डी की विचार धारा भी भामह से अधिक भिन्न नहीं है। उनकी परिभाषा भी अर्थ दोषयुक्त है।

काव्य के सम्बंध में आचार्य मम्मट की परिभाषा विशेष महत्वपूर्ण है। उन्होंने ऐसे शब्दार्थ को काव्य माना है जो दोष-रहित और गुण सहित हो, उसमें

चाहे अलंकारों का प्रयोग हो या न हो; परन्तु मन को पकड़ने की क्षमता उसमें अवश्य होनी चाहिए-

'तद्दोषौ शब्दार्थौ सगुणवनलंकृती पुनः क्वापि' (काव्य प्रकाश)

इस परिभाषा में काव्य के वाह्य-विधान की विस्तृत चर्चा मिलती है; पर उसके अन्तरंग चर्चा का पता नहीं चलता है। इसलिए कहा जाएगा कि मम्मट की परिभाषा काव्य के अभिव्यक्त पक्ष पर बल डालती है और अनुभूति पक्ष की उपेक्षा करती है। इतना होते हुए भी मम्मट की परिभाषा बहुत कुछ काव्य के स्वरूप को स्पष्ट करती है।

आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' में काव्य के सम्बंध में लिखा है-

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'।

अर्थात रस से परिपूर्ण वाक्य ही काव्य है। पहलीबार काव्य में रस की प्रतिष्ठा की बात इस परिभाषा में कही गयी है। वाक्य की रसमयता पर विश्वनाथ की दृष्टि निबध्द होने के कारण अनुभूति पक्ष की प्रधानता आई है और अभिव्यक्ति पक्ष उपेक्षित रह गयी है। स्पष्ट है कि विश्वनाथ की परिभाषा द्वारा काव्य की एक आन्तरिक विशेषता का उद्घाटन हुआ है। इसी कारण उनकी परिभाषा काव्य-लक्षण न होकर काव्य-प्रशस्ति बनकर रह गयी है।

आचार्य कुन्तक के अनुसार-

'शब्दार्थौ सहितौ वक्रकर्विव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं ताद्विदाह्लादकारिणि।'

अर्थात् काव्य वह परस्पर सम्बध्द शब्दार्थ है जो वक्र-व्यापार से युक्त तथा विदग्धों को आह्लाद देनेवाला है। कुन्तक ने अपनी परिभाषा में आह्लाद के द्वारा भावपक्ष तथा वक्रता के द्वारा भावपक्ष और कलापक्ष के समन्वय का प्रयास किया है। परन्तु 'आह्लाद' काव्य का लक्षण न होकर उद्देश्य मात्र है।

पंडित राज जगन्नाथ ने काव्य को परिभाषित करने की चेष्टा करते हुए कहा है-

'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दःकाव्यम्'-

अर्थात रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य है। यह परिभाषा अत्यंत महत्वपूर्ण होते हुए भी इस परिभाषा द्वारा किसी न्युतन रहस्य का उद्घाटन नहीं

हुआ है। यह विश्वनाथ की परिभाषा से अधिक भिन्न नहीं है। इसमें पूर्वकथित लक्षण का भाषांतर ही स्पष्ट होती है।

इस तरह हम देखते हैं कि संस्कृत आचार्यों ने काव्य क्या है-इसे समझाने का प्रयास किया है। उनके प्रयास में कहीं काव्य के बाह्यपक्ष पर बल पड़ा है और कहीं आंतरिक पक्ष पर। अत: संस्कृत आचार्यों द्वारा काव्य का सर्वसम्मत लक्षण निरूपित नहीं हो पाई हैं। इसी संदर्भ में अभी आवश्यक प्रतीत होता है कि पाश्चात्य विद्वानों की काव्य-सम्बंधी मान्यताओं का अनुधावन करें।

पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषाएँ :

विलियम वर्ड्स्वर्थ (William Words worth) ने भाव को प्रधानता देते हुए काव्य को शांति के क्षणों में स्मरण किए हुए प्रबल मनोवगों का स्वच्छन्द प्रवाह माना है-'Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings. It takes origin from emotions recollected in tranquility'

वर्ड्स्वर्थ की परिभाषा महत्वपूर्ण होते हुए भी काव्य निर्माण की प्रक्रिया से सम्बंधित है। इस परिभाषा द्वारा हमें इतना पता चलता है कि काव्य में कवि के प्रवल मनोवेग वर्णन होते हैं; इस से अभिव्यक्ति के स्वरूप का पता नहीं चलता है। इस तरह वर्ड्स्वर्थ की परिभाषा भी अपरिपक्क है।

पाश्चान्त विद्वान शैली (Shelly) के अनुसार विषादमय समय की अभिव्यक्ति ही उत्तम काव्य है-'Ours Poetry sweetest songs are those the tell of sadest thought.'-इसमें उत्तम काव्य क्या होता है-व्यक्त की गयी है। अर्थात यह परिभाषा काव्य का एक उपकरण मात्र प्रस्तुत करता है, कोई सर्वांग सुन्दर लक्षण नहीं।

हैजलिट के अनुसार -'Poetry is the language of the imagination and passions.'-अर्थात वासना और कल्पना की भाषा ही काव्य है। इस परिभाषा में भी काव्य-लक्षण सम्बंधी कुछ नयापन नहीं है।

मैथ्यू आर्नल्ड ने कविता को मूलत: जीवन की आलोचना माना है। उनके अनुसार-'Poetry is at bottom a criticism of life' इस परिभाषा से यह पता नहीं चलता है कि काव्य क्या है। इसमें यह बताया गया है कि काव्य क्या करता है।

जान स्टुअर्ट मिल के अनुसार-'What is poetry? but the thought and words in which emotion spontaneously embodies itself'-अर्थात काव्य क्या है ? केवल

वे विचार और शब्द जिनमें संवेग स्वत: मूर्तिमान है। प्रस्तुत परिभाषा वर्ड्स्वर्थ की परिभाषा से अधिक भिन्न नहीं है।

पाश्चात्य विद्वानों में हडसन की परिभाषा कुछ हद तक वस्तुस्थिति के निकट है। उन्होंने काव्य में जीवन की व्याख्या, कल्पना और मनोवेगों का योग स्वीकार किया है। उनके शब्दों में-'Poetry is the interpretation of life through imagination and emotion.' -अर्थात भाव और कल्पना के माध्यम से जीवन की व्याख्या काव्य है।

एक अंग्रेजी काव्यशास्त्री ने काव्य लक्षण की समीक्षा के क्रम में स्वीकार किया है कि-**'जिस तरह डूबते हुए सूरज के सौन्दर्यका उपभोग किया जा सकता है, भाषा के माध्यम से उसको कहा नहीं जा सकता; उसी तरह कविता से हम आनन्द उठा सकते हैं, पर कह नहीं सकते है कि कविता क्या है।'**

आगे इसी क्रम में हम हिन्दी के विद्वानों के काव्य सम्बंधी विचारों को देखने का प्रयास करेंगे।

हिन्दी के विद्वानों की परिभाषाएँ : आचार्य केशवदास के अनुसार

'जदपि सुजाति सुलच्छिनी, सुवरन सरस सुवृत्त।
भुषन बिनु न बिराजई कविता, बनिता, मित्त॥'

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने काव्य के सम्बंध में लिखा है -

'सुरम्यता ही कमनीय कांति है, अमूल्य आत्मा रस है मनोहरे।
शरीर तेरा शब्द मात्र है, नितांत निष्कर्ष यही, यही यही।'

प्रेमचन्द के अनुसार - 'काव्य जीवन की आलोचना है।'

महाकवि जयशंकर प्रसाद ने कहा है-'काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है जिसका सम्बंध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है। यह एक श्रेयमयी प्रेम रचनात्मक ज्ञान-धारा है।'

काव्य-लक्षण प्रतिपादित करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है-'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति-साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-विधान करती है, उसे कविता कहते हैं।'

छायावादी कवि सुमित्रानन्दन पंत के अनुसार -

'कविता हमारे परिपूर्ण क्षणों की वाणी है।'

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने काव्य को परिभाषित करते हुए लिखा है-'काव्य तो प्रकृत मानव अनुभूतियों का नैसर्गिक कल्पना के सहारे ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है, जो मनुष्य मात्र में स्वभावत: अनुरूप भावोच्छ्वास उत्पन्न करता है।'

हिन्दी के विद्वानों में द्विवेदी जी की परिभाषा में कोई मौलिकता नहीं है। प्रेमचन्दजी ने इसे जीवन की आलोचना कहकर एक सीमा में बाँध दिया है। प्रसाद जी की परिभाषा काव्य के आध्यात्मिक स्वरूप को स्पष्ट करती है। पंत जी की परिभाषा वर्ड्सवर्थ की परिभाषा से बहुत भिन्न नहीं है। नन्ददुलारे वाजपेयी ने प्रकृत मानव अनुभूतियों की बात कही है। इसमें पाश्चात्य परिभाषाओं का अनुकरण मात्र है। शुक्लजी की परिभाषा विस्तृत होते हुए भी काव्य के स्वरूप की व्याख्या प्रस्तुत करती है। उनकी परिभाषा भी वर्ड्स्वर्थ की परिभाषा से मिलती-जुलती है। अत: वर्ड्सवर्थ की परिभाषा 'साहित्य' के लिए, शुक्ल जी की परिभाषा 'कविता' के लिए और विश्वनाथ की परिभाषा 'काव्य' के लिए उपयुक्त है।

निष्कर्ष : इस तरह हम देखते हैं कि विश्वसाहित्य में काव्य सम्बंधी विभिन्न परिभाषाएँ प्रस्तुत की गई है; पर उनमें से कोई भी एक परिभाषा अंतिम रूप में सर्वमान्य नहीं हो सकी। उपर्युक्त विवेचन से काव्य के सम्बंध में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं-

१. काव्य में मानव-जीवन की व्याख्या होती है।

२. काव्य वह शब्द-विधान है, जिसमें शब्द और अर्थ का पूर्ण सामन्जस्य तथा योग रहता है।

३. काव्य में गुण, रीति, भाषा और अलंकारों से वाह्य-सौंदर्य की सृष्टि होती है।

४. काव्य सप्रयोजन रचना है। वह शेष सृष्टि के साथ मनुष्य के रागात्मक सम्बंध की स्थापना करता है।

५. काव्य की आत्मा रस है। काव्य में रस-निष्पत्ति अनिवार्य है।

६. सरल और लय-युक्त सार्थक शब्द-बध्द रचना ही काव्य है।

■■■

द्वितीय अध्याय

अलंकार-निरूपण

भूमिका : अलंकार का साधारण अर्थ है आभूषण। 'अलंकार' शब्द 'अलं' और 'कार' दो शब्दों से मिलकर बना है, जिसका अर्थ क्रमशः शोभा और करनेवाला अर्थात काव्य को आभूषित करनेवाला उपकरण है। साधारण कथन की अपेक्षा अलंकार युक्त कथन से सुन्दरता आ जाती है। जैसे-अगर कोई विरही तारों भरी रात्रि में प्रिया की स्मृति करके कहे कि-'रात्रि में मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूँ तुम आ जाओ'। इस सामान्य कथन में न कोई सौन्दर्य है और न मार्मिक अनुभूति ही है। इसी कथन को अगर इस प्रकार सरस काव्य में कहे तो कथन की मार्मिकता के सौन्दर्यता भी बढ़ जाती है-

"ललचाये लालची नैना,
पथ हेरें गिन गिन तारें।
वन चन्द्र-किरण आ जाना,
उर आंगन बीच हमारे॥"

इस प्रकार अलंकार काव्य के स्वरूप को सजाते हैं। जिस प्रकार एक स्त्री को अभूषण सजा देते हैं, उसी प्रकार अलंकार कविता को प्रेषणीय बना देते हैं।

अलंकार की परिभाषाएँ और काव्य में इस का स्थान :

व्याकरण की दृष्टि से अलंकार की परिभाषा इस प्रकार की गई हैं-'अलंकरोति इति अलंकारः' अर्थात जो सुशोभित करता है वह, अलंकार है। 'अलंक्रियतेडनेनेत्यलंकार'-अर्थात जिनके द्वारा किसी की शोभा होती है, वह अलंकार है।

व्याकरण से प्राप्त उक्त परिभाषाओं में अलंकार को काव्य की शोभा का साधन माना गया है। अलंकारवादियों के अनुसार अलंकार ही काव्य की आत्मा है। आचार्य भामह, दण्डी, उद्भट, जयदेव आदि ने अलंकार रहित काव्य को काव्य नहीं मानते।

भामह की निम्न परिभाषा से स्पष्ट है कि अलंकार के बिना काव्य की शोभा है ही नहीं-'**न कान्तमपि निर्भुषं विभाति वनिता मुखम**'-(काव्यालंकार)

अर्थात जिस तरह स्त्री का मुख सुन्दर होते हुए भी आभूषणों के बिना सुशोभित नहीं होता उसी प्रकार शोभा सम्पन्न होते हुए भी अलंकार हीन काव्य व्यर्थ है।

आचार्य दण्डी ने काव्य में अलंकार का माहत्व बतलाते हुए कहा है कि काव्य की शोभा-वर्णन करनेवाले गुण ही अलंकार है-

'काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारत् प्रचक्षते।'

आचार्य वामन के अनुसार-'सौन्दर्यमलंकार'-अर्थात जो सौन्दर्य है वही अलंकार है। तात्पर्य यह है कि जो काव्य का शोभा बढ़ाता है वही अलंकार है। आचार्य जयदेव ने यहाँ तक माना कि - यदि किसी ने काव्य को अलंकार रहित मानता है तो अपने को पंडित माननेवाला वह व्यक्ति अग्नि को उष्णताहीन क्यों नहीं मानते ?-

'अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृति॥' -(चन्द्रालोक)

आचार्य विश्वनाथ अलंकारों को अंगी न मानकर अंग ही मानते हैं और रस के उत्कर्ष में सहायक हैं-

'शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः।
रसादीनुपकुर्वन्तोडलंकारास्तेउगदादिवत्॥' - (साहित्य दर्पण)

यहाँ विश्वनाथ ने तीन विशेषताओं का उल्लेख किया, यथा-(१) अलंकार शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म है, (२) कवच आदि की भाँति शोभा को बढ़ानेवाले गुण ही अलंकार है और (३) अलंकार रस के उपकारक है।

अलंकारवादी आचार्यों ने अलंकारों को काव्य की आत्मा मानते हुए चमत्कार को ही प्रधानता ही है। परन्तु रसवादी आचार्यों ने सर्वत्र चमत्कार को महत्व नहीं दिया। वे रस को काव्य की आत्मा और अलंकारों को रस के उत्कर्ष में सहायक मानते हैं। आचार्य मम्मट ने '**अनलंकृति पुनः क्वापि**' कहकर काव्य में अलंकारों की यथार्थ स्थिति स्पष्ट की है।

हिन्दी में आचार्य केशवदास ने काव्य में अलंकारों का महत्व प्रतिपादित करते हुए कहा है-

'जदपि सुजाति सुलक्षणी, सुबरन सरस सुवृत्त।
भूषण बिनु न बिराजही, कविता वनिता मित्त॥' -(कविप्रिया)

इस तरह अलंकारवादियों की दृष्टि में अलंकारों का अर्थ व्यापक है। वे सौन्दर्य प्रसादक प्रत्येक तत्व को अलंकार मानते हैं। उनके अनुसार अलंकार ही काव्य की आत्मा है। लेकिन सच तो यह है कि अलंकारों को हम काव्य की आत्मा के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते हैं। क्योंकि अलंकार एक बाह्य चीज है-जिससे काव्य के सौन्दर्य बढ़ सकते हैं। यह काव्य की आत्मा नहीं है। काव्य में अलंकारिक चमत्कार का महत्व तो है; परन्तु अलंकारों के आधिक्य से उत्पन्न किया हुआ चमत्कार काव्य को सौन्दर्य प्रदान नहीं करता। अत: काव्य में अलंकार का स्थान रस के अधीन है। अलंकारों का प्रयोग इसी कारण होता है कि वह काव्य की रसानुभूति में सहायक बने। निम्न उदाहरण में अनुप्रास, उपमा और रूपक अलंकार के द्वारा भाव-सौन्दर्य में प्रेषणीयता बढ़ती है। यहाँ अलंकार-रस एवं भाव-सौन्दर्य में सहायक हैं-

'चुभ गई उनकी सरलता,
तीर-सी मेरे हृदय में।
भूल जाये वे मुझे,
पर मैं उन्हें कैसे भुलाऊँ।' -राकेश

सचमुच-अलंकार काव्य की आत्मा 'रस' के सहायक है। इसका प्रयोग काव्य में स्वतंत्र रूप में नहीं, बल्कि रसाधीन के रूप में प्रयोग किया जाना चाहिए। अत: अलंकार काव्य की आत्मा न होते हुए भी काव्य में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। इस सम्बंध में कवि पंत जी के शब्दों में निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि-'अलंकार केवल वाणी की सजावट के लिए नहीं वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान है।' -(पल्लव की भूमिका)

अलंकारो के भेद :

किसी कथन में शब्दगत अथवा अर्थगत सौन्दर्य होता है। जहाँ शब्द-चयन द्वारा कथन में सौन्दर्य आता है, वहाँ शब्दलंकार होता है, और जहाँ कथन में अर्थगत सौन्दर्य होता है, उसे अर्थालंकार कहते हैं। कहीं-कहीं कथन में शब्दगत और अर्थगत दोनों प्रकार का चमत्कार और सौन्दर्य होता है; ऐसे स्थलों पर उभयालंकार होता है। अत: अलंकारो के तीन भेद होते हैं। १. शब्दालंकार, २. अर्थालंकार और ३. उभयालंकार।

शब्दालंकार : शब्दालंकार भाषा के सौन्दर्य को बढ़ाते हैं। 'कुछ विशेष रूप से शब्दों की अन्विति होने पर शब्दालंकार होता है।' शब्दालंकार कुछ वर्णगत, कुछ शब्दगत और कुछ वाक्यगत होते हैं। अनुप्रास, यमक आदि अलंकार वर्णगत और शब्दगत है, तो लाटानुप्रास वाक्यगत। अनुप्रास, यमक, श्लेष, वक्रोक्ति, पुनरुक्ति, वीप्सा आदि प्रमुख शब्दालंकार हैं।

अर्थालंकार : 'काव्य के अर्थ और भाव को चमत्कारपूर्ण बनानेवाले अलंकार अर्थालंकार कहते हैं। अर्थालंकार में किसी शब्द के स्थान पर दूसरा पर्यायवाची रख देने पर भी अर्थालंकार के सौन्दर्य में कोई अन्तर नहीं आता है। जैसे-

'सुमनों की मुस्कान तुम्हारी'-यहाँ 'सुमनों' के स्थान पर फूलों या पुष्पों को रख देने से इसके अर्थगत सौन्दर्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता। केशव ने 'कविप्रिया' में ३५ अर्थालंकार गिनाये हैं; जसवंतसिंह ने 'भाषाभूषण' में १०१ अर्थालंकारों की चर्चा की हैं। जयदेव के 'चन्द्रालोक' और अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानन्द' में ११५ अर्थालंकारों का विवेचन है।

उभयालंकार : 'जहाँ कथन में शब्दगत और अर्थगत दोनों ही प्रकार का चमत्कार और सौन्दर्य हो, वहाँ उभयालंकार होता है।

यहाँ प्रमुख अलंकारों की परिभाषा, स्पष्टीकरण और सहज उदाहरण दिये जाते हैं-

शब्दालंकार :

अनुप्रास : 'वर्णों की आवृत्ति को अनुप्रास अलंकार कहते हैं। आवृत्ति का अर्थ किसी वर्ण का एक से अधिकबार आना है। जैसे-

'मुदित महिपति मंदिर आए। सेवक सचिव सुमंत्र बुलाए।'

यहाँ पहले पद में 'म' वर्ण की और दूसरे में 'स' वर्ण की आवृत्ति हुई है। अनुप्रास के कई प्रकार हैं; जैसे –

(क) **छेकानुप्रास :** एक वर्ण या अनेक वर्णों की एक बार आवृत्ति को छेकानुप्रास कहते हैं। जैसे–

'रीझि रीझि रहसि रहसि हँसि हँसि उठै।
सासैं भरि आँसू भरि कहत दई दई।'

यहाँ 'रीझि-रीझि', 'रहसि-रहसि', 'हँसि-हँसि' और 'दई-दई' में छेकानुप्रास अलंकार है। 'छेक' का अर्थ है चतुर। अत: चतुर व्यक्तियों को यह अलंकार विशेष प्रिय है।

(ख) **वृत्यानुप्रास :** जहाँ एक व्यंजन की आवृत्ति एक या अनेक बार हो, वहाँ वृत्यानुप्रास अलंकार होता है। जैसे–

१. 'सपने सुनहले मन भाये।'

२. 'सेस महेस गनेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।'

– यहाँ प्रथम उदाहरण में 'स' वर्ण की आवृत्ति एक बार और दूसरे में अनेकबार आवृत्ति हुई है।

(ग) **लाटानुप्रास :** जब एक शब्द या वाक्यखण्ड की आवृत्ति उसी अर्थ में हो, पर तात्पर्य या अन्वय में भेद हो, तो वहाँ लाटानुप्रास होता है। लाटानुप्रास में शब्दों और पदों की आवृत्ति होती है। शब्दों और पदों का अर्थ समान ही होता है; किन्तु अन्वय से अर्थ में भिन्नता आ जाती है। जैसे–'वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिए मरे।'–यहाँ 'मनुष्य' शब्द की आवृत्ति दो बार हुई है। दोनों का अर्थ 'आदमी' है; पर तात्पर्य या अन्वय में भेद है। पहला मनुष्य कर्ता है और दूसरा सम्प्रदान।

(घ) **श्रुत्यानुप्रास :** मुख के एक स्थान से उच्चरित होनेवाले वर्णों की आवृत्ति को श्रुत्यानुप्रास कहते हैं। जैसे–

'बिटपी-बिटपी बंधी पड़ी,
रह गई मोह के पाश में।'

यहाँ 'ब', 'प' और 'म' ओष्ठ्य वर्णों की आवृत्ति होने से श्रुन्यानुप्रास अलंकार है।

(ङ) **अन्त्यानुप्रास :** जब किसी चरण के प्रत्येक शब्द के अंत में समान स्वर या व्यंजन की आवृत्ति हो, वहाँ अन्त्यानुप्रास अलंकार होता है। जैसे–

कहत नटत रीझत खिझत, मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन में करतु हैं, नैननु हीं सौं बात।' – बिहारी

प्रस्तुत उदाहरण के पहले पंक्ति में प्रत्येक शब्द के अंत में 'त' व्यंजन की आवृत्ति हुई है, अत: यहाँ अन्त्यानुप्रास अलंकार है।

यमक : भिन्नार्थक स्वर-व्यंजन समुदाय की आवृत्ति को यमक अलंकार कहते हैं। यमक अलंकार में एक ही शब्द एकाधिक बार प्रयोग होते हैं, किन्तु उसका अर्थ भिन्न-भिन्न होता है। एक उदाहरण–

'उरवसी मेरे हृदय की,
उरवसी तुम पर निछावर।
ज्वार जीवन में उठाओ,
रूप-दर्शन मुस्कराकर।'

प्रस्तुत उदाहरण में 'उरवसी' शब्द दो बार प्रयोग हुआ है। दोनों के अर्थ में भिन्नता है। पहले 'उरवसी' का अर्थ 'हृदय में वसी हुई' और दूसरी 'उरवसी' का अर्थ है 'अप्सरा विशेष का नाम'।

श्लेष : एक पद में अनेक अर्थ श्लिष्ट होने पर श्लेष अलंकार होते हैं। श्लेष अलंकार में अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग होता है। 'श्लेष' का अर्थ है–'चिपका हुआ'। अर्थात श्लिष्ट शब्द में एकाधिक अर्थ चिपके रहते हैं। यथा–

'रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून।
पानी गए न ऊबरे, मोती मानुष चून।' –रहिम

इस उदाहरण में 'पानी' शब्द में तीन अर्थ चिपका हुआ है। जैसे–चमक, प्रतिष्ठा और जल। अर्थात 'मोती' के क्षेत्र में पानी का अर्थ है 'चमक', 'मानुष' के साथ पानी का अर्थ है 'प्रतिष्ठा' और 'चून' के क्षेत्र में–'जल' है।

वक्रोक्ति : श्रोता द्वारा वक्ता के कथन का उसके आशय से भिन्न अर्थ ग्रहण किये जाने पर वक्रोक्ति अलंकार होता है। वक्रोक्ति का शब्दिक अर्थ है वक्र उक्ति, अर्थात टेढ़ा (विदग्धतापूर्ण) उक्ति या कथन। इसमें वक्ता कोई बात किसी अभिप्राय से कहता है और श्रोता उससे भिन्न अर्थ ग्रहण करता है। श्रोता

भिन्न अर्थ की कल्पना श्लेष या काकु से करता है। अर्थात वक्रोक्ति अलंकार दो प्रकार का होता है- (क) श्लेष वक्रोक्ति और (ख) काकु वक्रोक्ति।

(क) श्लेष वक्रोक्ति : इसमें शब्द के श्लेषार्थ के द्वारा श्रोता वक्ता के कथन से भिन्न अर्थ ग्रहण करता है। जैसे-

'एक कबूतर देख हाथ में पूछा, कहाँ अपर है ?
उसने कहा, 'अपर' कैसा ? वह उड़ गया, सपर है।' -नूरजहाँ: 'भक्त'

यहाँ जहाँगीर ने नूरजहाँ से पूछा : एक ही कबूतर तुम्हारे पास है, अपर (दूसरा) कहाँ गया! नूरजहाँ ने दूसरे कबूतर को भी उड़ाते हुए कहा-अपर (बे-पर) कैसा, वह तो इसी कबूतर की तरह सपर (पर वाला) था, सो उड़ गया। अतः यहाँ 'अपर' शब्द को बिना तोड़े ही दो अर्थ-'दूसरा' और 'बेपरवाला' होने से श्लेष वक्रोक्ति हुआ।

(ख) काकु वक्रोक्ति : कण्ठध्वनि की विशेषता से अन्य अर्थ कल्पित हो जाना ही काकु वक्रोक्ति है। अर्थात् काकु-ध्वनि से कथन का अर्थ लेने में ही काकु वक्रोक्ति होती है। जैसे-

'मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू।
तुमहिं उचित तप मोकहुं भोगू।' - तुलसीदास

इस उदाहरण का सीधा अर्थ यह है कि- मैं सुकुमारी हूँ, नाथ बन के योग्य है और तुमको तपस्या करना उचित है और मुझे भोग उचित है। परन्तु काकु-ध्वनि से इसका अर्थ निम्न प्रकार है।

जब आप वन के कठोर दुःखों को सह सकते हैं, तो मैं भी इतनी सुकुमार नहीं हूँ कि वन की आपदाओं को सहन न कर सकूं। यदि तुम को तमस्या उचित है तो मैं भी तपस्या कर सकती हूँ और भोग में पड़ी नहीं रह सकती।

पुनरूक्तिप्रकाश : कथन के सौन्दर्य के बहाने के लिए एक ही शब्द की आवृत्ति को पुनरुक्तिप्रकाश कहते हैं। पुनरुक्ति प्रकाश में कथन में बल देने के लिए शब्दों की आवृत्ति होती है। जैसे-

'ठौर-ठौर बिहार करती सुन्दरी सुर नारियाँ।' यहाँ 'ठौर-ठौर' की आवृत्ति में पुनरुक्ति प्रकाश है। दोनों 'ठौर' का अर्थ एक ही है, परन्तु पुनरुक्ति से कथन में बल आ गया है।

वीप्सा : हर्ष, आतुरता, आश्चर्य, घृणा आदि मनोवेगों की बहुलता प्रकट करने के लिए शब्द की आवृत्ति होने पर वीप्सा अलंकार होता है।

जैसे- 'विरमौ-विरमौ। तात तनिक,
अब सुनन हेतु बल नाहीं।' -यहाँ 'आतुरता' व्यक्त होने से वीप्सा है।

अर्थालंकार :

अर्थालंकार ही यथार्थ में काव्य की शोभा बढ़ानेवाले धर्म है। शब्दालंकारों का महत्व भाषा की सजावट की दृष्टि से है। मार्मिक अनुभूति का प्रकाशन अर्थालंकारों द्वारा ही होता है। अर्थालंकारों का क्षेत्र और प्रभाव शब्दालंकारों की अपेक्षा बहुत अधिक व्यापक है। यहाँ प्रमुख अर्थालंकारों को विवेचन किये गये हैं।

उपमा : दो वस्तुओं में सादृश्य प्रतिपादन को उपमा अलंकार कहते हैं। उपमा का अर्थ है-समता, तुलना या बराबरी। उपमा के लिए चार बातें आवश्यक हैं-(क) उपमेय-जिसकी तुलना की जाय, (ख) उपमान-जिससे तुलना की जाय, (ग) सादृश्यवाचक पद-समानता स्थापित करनेवाला शब्द और (घ) साधारण धर्म-उपमेय और उपमान - दोनों के सामान्य गुणों को बतलानेवाला शब्द। जैसे-

'मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है।' इस उदाहरण में 'मुख' की तुलना चन्द्रमा से की गई है। अतः 'मुख' उपमेय है और 'चन्द्रमा' उपमान है। 'समान' सादृश्यवाचक शब्द है और 'सुन्दर' दोनों का साधारण धर्म है। 'सा, से, सी, समान, सरिस, सदृश, ज्यों, जैसे, जस' आदि उपमा वाचक शब्द होते हैं।

उपमा अलंकार के दो भेद होते हैं- (क) पूर्णोपमा और (ख) लुप्तोपमा।

पूर्णोपमा : उपमा के उपमेय, उपमान, समानतावाचक शब्द और साधारण धर्म - ये चारों अंग उपस्थित होने पर पूर्णोपमा अलंकार होता है। यथा-

'नवल सुन्दर श्याम-शरीर की,
सजल नीरद-सी कल कांति थी।' इस उदाहरण में 'कान्ति'-उपमेय, 'नीरद'-उपमान, 'सी'-समानतावाचक पद और 'कल'-साधारण धर्म है। अतः यहाँ उपमा के चारों अंग उपस्थित रहने के कारण पूर्णोपमा है।

लुप्तोपमा : जहाँ उपमा के चारों अंगों में से एक, दो, अथवा तीन अंग लुप्त हो, वहाँ लुप्तोपमा होती है। जैसे-'कमल कोमल मुख तुम्हारा'-में 'मुख'-

उपमेय, 'कमल'-उपमान और 'कोमल'-साधारण धर्म है। यहाँ समानतावाचक शब्द न होने से वह लुप्तोपमा है। जहाँ उपमेय, समानता वाचक और साधारण धर्म-तीन अंग लुप्त हो और केवल उपमान ही हो, वहाँ रूपकातिशयोक्ति होती है॥

रूपक : उपमेय में उपमान का निषेधरहित आरोप रूपक अलंकार है। रूपक में एक वस्तु पर दूसरी वस्तु का आरोप होता है। जैसे-

बीती विभावरी जाग री।
अम्बर-पनघट में डुबो रही तारा-घट ऊषा-नागरी'। - प्रसाद

प्रस्तुत उदाहरण में 'अम्बर', 'तारा', और 'ऊषा'-उपमेय पर क्रमशः 'पनघट, घट' और 'नागरी'-उपमान का आरोप हुआ है। अतः यहाँ रूपक अलंकार वर्त्तमान है।

उत्प्रेक्षा : उपमेय में उपमान की सम्भावना उत्प्रेक्षा अलंकार है। उत्प्रेक्षा का अर्थ है-किसी वस्तु को सम्भावित रूप में देखना। 'मोनों, जानो, ज्यों, त्यो' आदि उत्प्रेक्षा के वाचक शब्द हैं। एक उदाहरण-

'नील परिधान बीच सुकुमार, खुल रहा मृदुल अधखुला अंग।
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघवन बीच गुलाबी रंग।' -प्रसाद

प्रस्तुत उदाहरण में उपमेय-'नील परिधान' है, जिसमें उपमान-'मेघवन' से सम्भावना की गई है; और नायिका के आधखुले गौर वर्ण'-उपमेय की सम्भावना 'विजली के फूल' उपमान से की गई है।

अतिशयोक्ति : अतिशयोक्ति का अर्थ होता है-उक्ति में अतिशयता का समावेश। जहाँ किसी का वर्णन इतना बढ़ा-चढ़ाकर किया जाये कि सीमा या मर्यादा का उल्लंघन हो जाय, वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार होता है।

जैसे- 'बाँधा था विधु को किसने, इन काली जंजीरों से।
मणिवाले फणियों का मुख, क्यों भरा हुआ हीरों से।' -प्रसाद

यहाँ मोतियों से भरी हुई प्रियाँ की माँग का कवि ने वर्णन किया है। विधु या चन्द्र से मुख का, काली जंजीरों से केश और मणिवाले फणियों से मोती भरी माँग का बोध होता है। अतः प्रस्तुत उदाहरण में अतिशयोक्ति अलंकार मौजुद है।

अनन्वय : उपमेय की समता के लिए उपमान न मिलने पर उपमेय स्वयं ही उपमान हो जाने पर अनन्वय अलंकार होता है। जैसे-

'राम से राम सिया सी सिया,
विधि ने रचि के निज हाथ सँवारे।' -तुलसी

यहाँ 'राम' और 'सीता' की अन्यत्र समता न मिलने पर राम की समानता राम से और सीता की समानता सीता से की गई है। अतः यहाँ अनन्वय अलंकार स्पष्ट है।

अपन्हुति : उपमेय का निषेध करके उपमान की स्थापना करने को अपन्हुति अलंकार कहते है। अपह्नुति का अर्थ है-छिपाना। उसमें किसी सत्य बात को छिपाकर असत्य बात की स्थापना की जाती है। यथा-

'मैं जो कहा रघुवीर कृपाला।
बन्धु न होई मोर यह काला।' -तुलसी

प्रस्तुत उदाहरण में 'सत्य' बन्धु को छिपाकर 'काल' की स्थापना की गई है।

उदाहरण : सामान्य रूप से कही हुई बात को अच्छी तरह समझने के लिए उदाहरण की रीति से समझाने पर उदाहरण अलंकार होता है। इस अलंकार में 'इव, यथा, जैसे, कैसे' आदि उदाहरण सूचक शब्द रहते हैं। जैसे-

'मन मलीन तन सुन्दर कैसे।
विस-रस भरा कनक-घट जैसे।'

यहाँ 'कैसे, जैसे' उपमावाचक शब्दों के द्वारा पृथक कथन का उदाहरण प्रस्तुत होने के कारण उदाहरण अलंकार है।

दीपक : जहाँ प्रस्तुत (उपमेय) और अप्रस्तुत (उपमान) दोनों का एक ही धर्म कथन हो, वहाँ दीपक अलंकार होता है। अर्थात दीपक अलंकार में उपमेय और उपमान-दोनों का एक ही धर्म देखा जाता है। जैसे-

'बिन चाखे रस ना मिलै,
आम कामिनी ऊख।'

यहाँ 'कामिनी' प्रस्तुत (उपमेय) है और 'आम' तथा 'ऊख' अप्रस्तुत (उपमान) है। दोनों का 'बिन चाखे रस ना मिलै' एक ही धर्म कहा गया है।

प्रतीप : उपमेय को उपमान का रूप देने अथवा उपमान को उपमेय बना देने पर प्रतीप अलंकार होता है। प्रतीप का अर्थ है उलट देना। यहाँ उपमान का उपमेय बनाया जाता है अथवा उपमेय द्वारा उपमान का निरादर कराया जाता है। जैसे-

'मुख के सामने चन्द्रमा फीका है।'

यहाँ 'मुख' उपमेय है और 'चन्द्रमा' उपमेय। उपमेय द्वारा उपमान का निरादर किया गया है। और एक उदाहरण-

'दूर-दूर तक विस्तृत था हिम,
स्तब्ध उसी के हृदय समान।' - प्रसाद

'हृदय' को उपमेय और 'हिम' को उपमान कहा जाता है। यहाँ यह क्रम उलट देने से ही प्रतीप अलंकार का चमत्कार देखने बनता है।

तुल्ययोगिता : जहाँ अनेक उपमेयों अथवा उपमानों का एक ही धर्म, क्रिया आदि के साथ सम्बंध स्थापित होना वर्णित हो, वहाँ तुल्ययोगिता अलंकार होती है। यथा-

'प्रिय के चरण, नख, मुख दसन,
कर, केश, दृश सुषमा भरे।'

यहाँ 'चरण, मुख, दसन, कर, केश, दृग' आदि उपमेयों का सुषमा भरे-एक ही धर्म-कथन है।

तद्‌गुण : जहाँ एक वस्तु का अपना गुण छोड़कर निकट वस्तु का गुण ग्रहण कर लेने का वर्णन होता है, वहाँ तद्‌गुण अलंकार होता है। जैसे-

'अधर धरत हरि के परत, ओंठ डीठि पट ज्योति।
हरत बाँस की बाँसुरी, इंद्र धनुष रंग होति।' - बिहारी

यहाँ हरे बास की बंशी, ओंठ, नेत्र और बीताम्बर के रंगों को ग्रहण कर इन्द्रधनुष का रंग ग्रहण कर रही है।

अतद्‌गुण : जहाँ कोई वस्तु अपनी समीपस्थ किसी दूसरी वस्तु के गुण को ग्रहण नहीं करती, वहाँ अतद्‌गुण अलंकार होता है। जैसे -

'राधा हरि वन गई हाय! यदि हरि राधा बन पाते।
तो उद्धव मधुवन से उलटें तुम मधुपुरही जाते।'

यहाँ राधा हरि होने पर भी कृष्ण राधा न हो सके। इसी तरह और एक उदाहरण-

'चन्दन विष व्यापत नहीं,
लिपटे रहत भुजंग।'

-यहाँ चन्दन के बृक्ष में सर्प लिपटे रहने पर भी उसका विष व्याप्त नहीं

होता, अत: अतद्‌गुण अलंकार स्पष्ट है।

व्यतिरेक : उपमेय में उपमान से अधिक गुण-कथन होने पर व्यतिरेक अलंकार होता है। जैसे-

'चन्द्र नहीं कर सकता क्षण भी,
प्रिया वदन की समता।
चन्द्र प्रकाशित होता निशि में,
वह दिन-रात बिहंसता।' -राकेश

यहाँ उपमान 'चन्द्रमा' से उपमेय 'मुख' का अधिक गुण कथन करके मुख को उत्कर्ष दिखाया गया है। चन्द्रमा केवल रात्रि में ही प्रकाशित होता है, जबकि प्रिया का मुख रात-दिन अपनी हास्य-चन्द्रिका प्रकाशित करता रहता है।

काव्यलिंग : किसी युक्ति से समर्थित की बात को काव्यलिंग अलंकार कहते हैं। जैसे-

'मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
झा तन की झाई परै, स्यामु हरित दुति होइ।' - बिहारी

प्रस्तुत उदाहरण के प्रथम चरण में 'राधा से भव-बाधा दूर करने की प्रार्थना' की गई है। दूसरे चरण में इसकी पुष्टि करते हुए कहा है कि राधा जी भव-बाधा दूर करने में समर्थ हैं।

सन्देह : किसी वस्तु के विषय सादृश्य मूलक संशय होने में सन्देह अलंकार होता है। इस अलंकार में उपमेय और उपमान का परस्पर सम्बंध होता है। इसमें हमेशा विकल्प सी स्थिति होती है। एक उदाहरण -

'प्रकृति कोई कामिनी है
या चमकती नागिनी है।'

अंधकार में रस्सी को देखकर यह विकल्प किया जाए कि-'रस्सी है या साँप है। इसमें भी सन्देह अलंकार है।

भ्रांतिमान : सादृश्य के कारण एक वस्तु को दूसरी वस्तु समझ लेना भान्तिमान् अलंकार है। जैसे-

'पाय महावर देन को, नाइन बैठि आय।
फिरि-फिरि जाति महावरी, एड़ी मीड़ति जाय।'

यहाँ भान्तिमान 'महावर' का भ्रम नाइन को हो जाता है। इसलिए यहाँ भान्तिमान अलंकार है। अंधकार में पड़ी हुई रस्सी को साँप मान लेने में भी भ्रान्तिमान् है।

परिसंख्या : किसी वस्तु का एक या समस्त स्थानों से निषेध कर के दूसरे स्थान पर प्रतिस्थापित होने का वर्णन करने से परिसंख्या अलंकार होता है। जैसे-

'केसन ही में कुटिलता, संचारिन में संक।'

यहाँ कुटिलता का अन्य स्थानों से हटाकर केवल 'केशों' में तथा शंका (संक) को अन्य स्थानों से हटाकर केवल संचारी भावों में स्थापित किया गया है।

उल्लेख : एक ही वस्तु को विथिन्न दृष्टिकोणों से देखे जाने अथवा वर्णन किए जाने पर उल्लेख अलंकार होता है। जैसे-

'तू रूप है किरण में,
सौन्दर्य है सुमन में,
तू प्राण है पवन में,
विस्तार है गगन में।'

यहाँ ईश्वर का अनेक रूपों में वर्णन होने से उल्लेख अलंकार है।

दृष्टांत : जहाँ उपमेय और उपमान वाक्य के साधारण धर्म में बिम्ब-प्रतिबिम्बि भाव हो, वहाँ दृष्टांत अलंकार होता है। इस में एक उपमेय वाक्य और दूसरा उपमान वाक्य रहता है। दोनों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव रहता है। यथा-

'सुख-दुख मधुर मिलन से यह जीवन हो परिपूरन,
फिर धन में उझल हो शशि, फिर शशि से उझल हो धन।'

यहाँ सुख-दुख और शशि तथा धन में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाब है; अत: यहाँ दृष्टांत अलंकार है।

विभावना : जहाँ प्रसिध्द कारण के अथाव में कार्य होने का वर्णन होता है, वहाँ विभावना अलंकार होता है। 'विभावना' का अर्थ है विभिन्न प्रकार का विचार। यह विचार किसी प्रसिध्द कारण के अथाव में कार्य होने की कल्पना है। यथा-

'सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ,
किन्तु समझो रात का जाना हुआ।' - मैथिलीशरण गुप्त

यहाँ सूर्य के उदय न होने पर भी रात को समाप्त हो जाने का वर्णन किया गया है। अर्थात कारण के बिना ही कार्य होने का वर्णन है। इसलिए यहाँ विभावना अलंकार की संगति चमत्कारपूर्ण है।

विरोधाभास : जहाँ विरोध न होते हुए भी विरोध का आभास का वर्णन हो, वहाँ विरोधाभास अलंकार होता है। विरोध+आभास अर्थात विरोध की प्रतीति हो, परन्तु वास्तव में विरोध न हो-यही विरोधाभास है। जैसे-

'या अनुरागी चित्त की, गति समुझै नहिं कोइ।
ज्यौं-ज्यौं बूड़ै स्याम रंग, त्यौं-त्यौं उज्ज्वलु होइ।' - बिहारी

प्रस्तुत उदाहरण में श्याम रंग में डूबने से उज्ज्वल होना कहा गया है, जहाँ विरोध-भाव स्पष्टतया भासित हो रहा है। कारण काले रंग में यदि कोई वस्तु डूबेगी तो वह काली ही होगी, उज्ज्वल नहीं। पर मूलत: यहाँ विरोध नहीं है। क्योंकि 'श्याम रंग' से तात्पर्य श्रीकृष्ण की भक्ति से है और इसमें 'अनुरागी' भक्ति 'चित्त' जितना ही रमेगा, उतना ही उज्ज्वल होता चला चाएगा।

विशेषोक्ति : जहाँ कारण होते हुए भी कार्य न होने का वर्णन हो, वहाँ विशेषोक्ति अलंकार होता है। जैसे-

'देखो दो दो मेघ बरसते प्यासी की प्यासी'-मैथिलीशरण गुप्त।

जल से प्यास बुझ जाती है, किन्तु यहाँ निरन्तर अश्रु प्रवाहित होने पर भी प्यास वेदना नहीं बुझती। इसी तरह 'त्यों-त्यों प्यासे ई रहत ज्यों-ज्यों पियत अधाय' में भी विशेषोक्ति अलंकार है। क्योंकि इसमें पी कर तृप्त हो जाने के बाद भी प्यास समाप्त नहीं होने का वर्णन है।

समासोक्ति : प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति समासोक्ति अलंकार है। अर्थात् उपमेय के बोध से उपमान का भी बोध होना समासोक्ति अलंकार है। जैसे-

'पीली पड़ निर्बल कोमल कृश देह लता कुम्हलाई।
विवसना लाज में लिपटी साँसों में शून्य समाई॥'

प्रस्तुत उदाहरण में प्रात:कालीन चाँदनी का वर्णन किया गया है। विशेषण सामने होने के कारण यह विरहिणी नायिका का वर्णन हो जाता है, जो अप्रस्तुत है। इस प्रकार यहाँ प्रस्तुत के वर्णन से अप्रस्तुत का बोध होन से समासोक्ति अलंकार है। इस प्रकार निम्नलिखित पंक्तियों में भी समासोक्ति अलंकार का

चमत्कार है-

'नहिं परागु नहिं मधुरमधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सों बँध्यो, आगे कौन हवाल॥' - बिहारी.

गुढ़ोक्ति : जहाँ किसी व्यक्ति के प्रति कहे हुए इष्ट व्यक्ति (जो वहाँ उपस्थित रहता है) को सुनाकर किसी बात की सूचना दी जाती है, वहाँ गुढ़ोक्ति अलंकार होता है। जैसे-

'पुनि आउब इहि बिरिया काली।
अस कहि विहँसि चली इक आली।'

यहाँ सखी सीता, राम और लक्ष्मण आदि प्रस्तुत हैं। सखी के कथन में ऐसी गुढ़ोक्ति है कि सीता अपने लिए समझती हैं और राम अपने लिए समझते हैं कि कल यहाँ इस समय फिर आना है।

अत्योक्ति : जहाँ किसी बात या वस्तु का लोक सीमा से परे इतना बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया जाता है कि वह सत्य प्रतीत नहीं हो, वहाँ अत्योक्ति अलंकार होती है। जैसे-

'बिरहा जब आग लगी तन में,
तब जाय परी जमुना जल में।
विरहानल तैं जल सूखि गयो,
सफरी जल छाड़ि गई तल में।' -रसखान

यहाँ विरह-ताप का अत्यन्त ऊहात्मक वर्णन हुआ है, जो सत्य से बहुत दूर है। अत: यहाँ अत्योक्ति अलंकार का समावेश है।

लोकोक्ति : प्रसंग के अनुकूल लोक में प्रसिध्द किसी कहावत का काव्य में प्रयोग होने पर लोकोक्ति अलंकार होता है। जैसे-

'मुझे नित्य बस दर्शन इनके,
तुम करती रहने देना।
कहते हैं इसको ही अँगुली
पकड़ प्रकोष्ठ पकड़ लेना।'

यहाँ पर उँगली पकड़कर पहुँचा पकड़ने वाली लोक में प्रसिध्द कहावत का

काव्यात्मक प्रयोग होने से लोकोक्ति अलंकार है।

अर्थान्तरन्यास : जहाँ सामान्य का विशेष से अथवा विशेष का सामान्य से समर्थन किया जाए, वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है। जैसे-

'जो रहिम उत्तम प्रकृत का करि सकत कुसंग।
चन्दन विष व्यापत नहिं लिपटे रहत भुजंग॥' -रहिम

यहाँ 'कुसंगति अच्छे स्वभाववाले व्यक्ति को खराब नहीं करती है'-सामान्य बात कही गई है, जिसका समर्थन विशेष बात-'चन्दन में सर्प लिपटे रहते है, फिर भी उसमें विष व्याप्त नहीं होता है' - से की गई है। अत: यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

मानवीकरण : जहाँ किसी वस्तु या भाव में चेतना का आरोप किया जाता है, वहाँ मानवीकरण होता है। मानवीकरण अलंकार में प्रकृति के द्वारा मानवी क्रिया-कलापों को करते हुए दिखाया जाता है। जैसे-

'धीरे-धीरे उत्तर क्षितिज से
आ वसंत रजनी।
तारकमय नव वेणी बन्धन
शीलफूल कर शशि का नूतन।' -महादेवी (यामा)

प्रस्तुत उदाहरण में बसन्त रजनी में किसी नव यौवन के स्वरूप आरोप किया गया है, और उससे उन कार्यों के करने की अपेक्षा की गई है, जो एक रमणी (मानवी) ही कर सकती है; यथा-वेणी-बन्धन, शीशफूल धारण करना आदि।

विशेषण-विपर्यय : जहाँ किसी कथन को विशेष अर्थ गर्भित या प्रभावशाली बनाने के लिए विशेषण या विपर्यय कर दिया जाता है, वहाँ विशेषण-विपर्यय अलंकार होता है। एक उदाहरण-

'भीख की भूखी झोली छीन,
मान सच कुछ भी पायेगी न।'

यहाँ 'भूखी झोली' पर ध्यान देने योग्य है। 'भीख' पद से तात्पर्य है-'भीख माँगनेवाले। अत: भीख माँगनेवाले की झोली 'भुखी' कैसे होगी, वह तो स्वयं भूखे है। पर 'झोली' फैलाने का अर्थ ही है-प्राप्य से भूख शांत करना, और इसी को प्रभावशाली ढंग से सम्प्रेषित करने के लिए कवि 'विशेषण-विपर्यय' का

7865

आश्रय लिया है।

उभयालंकार : उभयालंकार के दो भेद हैं-(क) संकर, (ख) संसृष्टि

संकर : जहाँ एक से अधिक अलंकार इस प्रकार मिले हों कि एक के द्वारा दूसरे में चमत्कार उत्पन्न हो, वहाँ संकर अलंकार होता है। यथा-

'नाक का मोती अधर की कांति से,
बीच दाड़िम का समझकर भ्रान्ति से।
देखकर सहसा हुआ शुक मौन है,
सोचता है अन्य शुक यह कौन है।'

यहाँ तदगुण, भान्तिमान और उत्प्रेक्षा अलंकार के मिश्रण से संकर है।

संसृष्टि : जहाँ दो या दो से अधिक अलंकार मिले हों और मिले होने पर उनमें भेद दीख पड़ता हो, वहाँ संसृष्टि अलंकार होता है। जैसे-

'सखि नीरवता के कंधे कर डाले बाँह,
छाँह-सी अम्बर-पथ से चली।'

यहाँ उपमा और रूपक अलंकार की संसृष्टि है।

अलंकारो का पारस्परिक सम्बंध व भेद :

यमक और लाटानुप्रास : इन दोनों अलंकारों में शब्दों या पदों की आवृत्ति होती है, किन्तु यमक में जहाँ शब्दों की आवृत्ति के साथ-साथ उनका अर्थ भिन्न होता है, वही लाटानुप्रास अलंकार में अर्थ नहीं बदलता है। लाटानुप्रास में तात्पर्य या अन्वय के कारण अर्थ में भिन्नता आता है; लेकिन यमक अलंकार में भिन्नार्थक शब्द ही रहता है। उदाहरण ऊपर दिये गये है।

यमक और श्लेष : श्लेष में एक ही शब्द के दो या दो से अधिक अर्थ होते है, जबकि यमक अलंकार में एक से शब्दों का प्रयोग होता है, किन्तु उनका अर्थ भिन्न होता है। उदाहरण पहले ही अलग अलग अलंकार के लक्षण यापरिभाषा में दिये गये है।

श्लेष और वक्रोक्ति : दोनों अलंकारो में अर्थ चमत्कार दिखाया जाता है। श्लेष में चमत्कार का आधार एक शब्द के दो अर्थ से हैं; लेकिन वक्रोक्ति में यह चमत्कार कथन के तोड़मरोड़ या उक्ति के ध्वन्यार्थ द्वारा प्रकट होता है। दोनों में

इतना ही मुख्य अन्तर है।

उपमा-रूपक-उत्प्रेक्षा : 'उपमा' में उपमेय की समता उपमान से होती है। रूपक में उपमेय पर उपमान का आरोप होता है। जब कि उत्प्रेक्षा में उपमेय में उपमान की बलपूर्वक संभावना की जाती है। जैसे- 'मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है' में उपमा 'मुख-चन्द्र' में रूपक और 'मुख मानो चन्द्रमा है' में उत्प्रेक्षा है।

उपमा और व्यतिरेक : उपमा में उपमेय की समता उपमान से की जाती है। अर्थात उपमा में उपमान का महत्व अधिक रहता है; दूसरी ओर व्यतिरेक में- उपमान से उपमेय में अधिक गुण कथन होता है। जैसे-'मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है।' यहाँ 'मुख' समानता प्रसिध्द उपमान 'चन्द्र' से होने के कारण उपमा अलंकार है। दूसरी ओर 'मुख निष्कलंक चन्द्र है'-उदाहरण में मुख को निष्कलंक चन्द्र कहकर उपमेय-'मुख' में उपमान 'चन्द्र' से अधिक गुण का कथन किया गया है। अत: यहाँ व्यतिरेक अलंकार है।

व्यतिरेक और प्रतीप : व्यतिरेक अलंकार में उपमेय में उपमान से अधिक गुण-कथन किया जाता है; जब कि प्रतीप अलंकार में उपमान को उपमेय बना दिया जाता है, या उपमान का तिरस्कार किया जाता है। जैसे-'मुख के सामने चन्द्रमा फीका है' उदाहरण में मुख (उपमेय) के सामने चन्द्रमा (उपमान) का तिरस्कार किया गया है; अत: यहाँ प्रतीप अलंकार है। दूसरी ओर 'चाँद कलंकी मुख निष्कलंक' में उपमान चन्द्रमा से उपमेय मुख में अधिक गुण-कथन किया गया है; अत: व्यतिरेक अलंकार है।

सन्देह और भ्रान्तिमान : सन्देह अलंकार में उपमेय में उपमान का विकल्प रहता है, जब कि भ्रान्तिमान में सादृश्य के कारण उपमेय को उपमान मान लिया जाता है। जैसे-अंधकार में रस्सी को देखकर रस्सी है या साँप है' का विकल्प रहने पर 'सन्देह अलंकार होगा; और जब 'रस्सी नहीं है साँप है' समझ लेने से भ्रान्तिमान होगा।

विभावना और विशेषोक्ति : विभावना अलंकार में कारण के विना कार्य होने का वर्णन होता है; लेकिन विशेषोक्ति अलंकार इसका उलटा है। विशेषोक्ति में कारण के होने पर भी कार्य का न होना वर्णित होता है। जैसे-'नीर भरे नित-

प्रति रहैं तऊन प्यास बुझाई' में प्यास बुझने का कारण नीर (जल) होने पर भी प्यास नहीं बुझती; अतः यहाँ विशेषोक्ति अलंकार है। दूसरी ओर-'बिनु पग चलें सुनै बिनु काना' में पैर और कान (कारण) के बिना ही क्रमशः चलना और सुनने (कार्य) का काम होने से विभावना है।

उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति : उत्प्रेक्षा में, उपमेय में उपमान की वलपूर्वक संभावना की जाती है, जबकि अतिशयोक्ति में उपमेय का बहुत बढ़ा चढ़ाकर वर्णन करके उत्कर्ष दिखाया जाता है। जैसे-'मुख मानो चन्द्रमा है' में उत्प्रेक्षा अलंकार है और 'मुख से संसार प्रकाशित हो रहा है' में अतिशयोक्ति है।

तद्गुण और अतद्गुण : तद्गुण अलंकार में एक वस्तु अपनी समीपवर्ती वस्तु का गुण ग्रहण करने का वर्णन होता है; लेकिन अतद्गुण में ऐसा नहीं होता है। अतद्गुण अलंकार में समीप रहते हुए भी समीपवर्ती वस्तु का गुण ग्रहण नहीं करने का वर्णन होता है। जैसे-

'अधर धरत हरि कैं परत, ओठ डीठि पट जोति।
हरित बांस की बाँसुरी, इन्द्र-धनुष एँ होति।' -बिहारी

यहाँ हरित बाँस की बाँसुरी इन्द्र-धनुष के गुण ग्रहण करने से तद्गुण अलंकार है। दूसरी ओर 'चंदन विष व्यापत नहीं लिपटे रहत भुजंग' में भुजंग यानी साँप के लिपटे रहने पर भी उसका विष चन्दन में व्यात नहीं होने का वर्णन होने से अतद्गुण अलंकार है।

■■■

तृतीय अध्याय

गुण

भूमिका : कोश के अनुसार 'गुण' का अर्थ है-उच्चतम विशेषता, आकर्षक अथवा शोभाकारी धर्म, दोषों का अथाव इत्यादि। जिस प्रकार वीरता आदि चेतन आत्मा के धर्म है, उसी प्रकार माधुर्य गुण, ओज गुण आदि काव्य की आत्मा रस के धर्म है, इसीलिए इनको रस के धर्म कहा जाता है। गुण रस के साथ सदा रहनेवाले हैं। जहाँ रस की स्थिति रहती है, वहाँ गुण रस का उपकार करते हैं। गुण नीरस काष्प में नहीं रहते हैं।

परिभाषा : 'काव्य में गुण उन्हें कहते हैं, जो रस के धर्म एवं उत्कर्ष के कारण और जिनकी रस के साथ अवस्थिति रहती है।'

सबसे पहले आचार्य भरत ने गुणों की परिभाषा देते हुए लिखा है-'एत एव विपर्स्यता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः।'

भरत की यह परिभाषा अभावात्मक है। आचार्य दण्डी ने गुण को काव्य की समृध्दि का कारण माना। वे गुणों को भरत की तरह अभावात्मक न मानकर भावात्मक मानते हैं। परन्तु दण्डी की अलंकार की परिभाषा इतनी व्यापक थी कि अलंकार में ही गुण का अन्तर्थाव हो गया-

'काव्य शोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।'

आचार्य वामन ने गुणों को स्वतंत्र सत्ता प्रदान की। उन्होंने गुण को काव्य की शोभा के कारण मूल तत्व के रूप में स्वीकार किया-

'काव्य शोभायाः कर्त्तारो धर्मा गुणाः।' -काव्यालंकारसूत्र

आचार्य मम्मट ने गुणों का स्वरूप विश्लेषण करते हुए कहा है कि जिस प्रकार शरीर में प्रधान रूप से वर्तमान आत्मा के शीर्ष आदि गुण आत्मा के साथ अपृथक भाव से रहते हैं और उसी की श्रीवृध्दि करते हैं, उसी प्रकार काव्य में प्रधान रूप से विद्यामान रस के साथ अपृथक अथवा नियमित रूप से अवस्थित जो धर्म उसके उत्कर्ष में सहायक होते हैं, उनको गुण कहते हैं।

विश्वनाथ ने भी आचार्य मम्मट की मान्यता को स्वीकार किया। अतः 'गुण' और 'अलंकार' दोनों की परिभाषा देते हुए उनको काव्य का शोभाकारक धर्म बतलाया गया। आनन्दवर्ध्दन ने अलंकार को रस के सौन्दर्य का साधन और गुण को अंगी माना है। वामन के अनुसार 'काव्य का शोभाकारक धर्म गुण है' और

गुणों के उत्कर्ष में वृध्दि करनेवाले तत्वों का नाम अलंकार है। निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि अलंकार बाह्य धर्म है और गुण आभ्यन्तर। अलंकार किसी बात को चमत्कारपूर्ण बना देते है और वह चमत्कार ही गुण है।

गुण के भेद : गुण के मुख्यतः तीन भेद हैं, जैसे-(क) माधुर्य गुण, (ख) ओज गुण और (ग) प्रसाद गुण।

माधुर्य गुण : वाक्य के अन्तर्गत शब्द और अर्थ में रस की स्थिति होना ही माधुर्य गुण कहा जाता है। इससे बुध्दिमान उसी प्रकार आनन्दित होता है, जैसे मधु से भौंरे। एक उदाहरण-

कंकन किंकिन नुपूर धुनि सुनि। कहत लखन सन राय हृदय गुनि॥
मानहु मदन दुन्दुभी दीन्हीं। मनसा विस्व विजय कह कीन्हीं॥ -तुलसीदास

स्पष्टीकरण : श्रृंगार, करुण, शान्त जैसे कोमल रसों में माधुर्य गुण रहता है। माधुर्य गुण युक्त काव्य में कठोर वर्ण (ट,ठ आदि), लम्बे समास-युक्त शब्द और 'र' के संयोग से बने हुए शब्दों का प्रयोग नहीं होता है।

ओज गुण : जिस काव्य के सुनने से हृदय की भावनाएँ उद्दीप्त हों और मन में ओज (तेज, उत्साह) उत्पन्न हो, वहाँ ओज गुण होता है। जैसे-

थर-थर कांपत कुतुबसाह गोल कुण्डा।
हहरि हवस भूप-रिति भरकत है।
राजा सिवराज के नागरन की धाक सुनि।
केते पातासहन की छाती धरकति है।

स्पष्टीकरण : ओज गुण के द्वारा बीर, रौद्र, भयानक और वीभत्स रस में अधिक उद्दीप्त होती है। ओज गुण में लम्बे-लम्बे समासों और कठोर वर्णों की अधिकता रहती हैं।

प्रसाद गुण : जिस प्रकार सूखे ईंधन में अग्नि तुरंत व्याप्त हो जाती है, उसी प्रकार जो गुण रस और काव्य रचना में सहृदय का चित्त तुरन्त व्याप्त कर दे, उसे प्रसाद गुण कहते हैं। सरल सरस तथा सीधे-सादे शब्दों की रचना में प्रसाद गुण होना है। जैसे-

वह आता,
दो टूक कलेजे के करता, पछताता पथ पर आता।' - निराला

इस संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुण रसानुभूति में सहायक है क्योंकि माधुर्य, ओज और प्रसाद-तीनों में रसानुकूल वर्ण प्रयोग की महत्ता है।

■■■

चौथा अध्याय

छन्द

भूमिका : शब्दों की व्यवस्था को छन्द कहते है। छन्द का अर्थ बन्धन है। छन्द का प्रारम्भिक रूप ऋगवेद में मिलता है। छन्दशास्त्र के आदि-प्रणेता आचार्य पिंगल थे, जिनके नाम पर छन्द-शास्त्र को पिंगल भी कहा जाता है। छन्दोबध्दता कविता को सौंदर्य प्रदान करती है। 'जिस प्रकार नदी के तट अपने बंधन से धारा की गति को सुरक्षित रखते हैं, जिसके बिना वह अपनी ही बन्धनहीनता में अपना प्रवाह खो बैठती है, उसी प्रकार छन्द भी अपने नियंत्रण में राग को स्पन्दन, कम्पन तथा वेग प्रदान कर निर्जीव शब्दों में भी सौन्दर्य भर देते हैं।'

छन्द और कविता का सम्बंध : निश्चित वर्णों या मात्राओं की विराम, गति या यति आदि से बँधी हुई शब्द योजना को छन्द कहते हैं। एक श्रेष्ठ कविता छन्दोबध्द ही होती है। कविता और छन्द का सम्बंध बहुत पुराना है। छन्द के बिना कविता की आत्मा आवरणहीन मानी जाती रही है। लेकिन यह विवाद भी पुराना है कि-क्या, छन्द कविता का अनिवार्य तत्व है या गौण; क्या बिना छन्द के कविता नहीं हो सकती? क्या छन्द पर ध्यान रखने से अनुभूति की तीव्रता कम नहीं होती?

अतः छन्द और कविता का सम्बंध-इस विषय में पक्ष और विपक्ष में-दोनों प्रकार की सबल मान्यताए रही; दो विचार धाराएँ हैं। एक है-छन्द विरोधी विचारधारा और दूसरा है-छन्द समर्थक विचारधारा। अब हम यहाँ संक्षेप में दोनों पक्षों पर विचार कर काव्य और छन्द के पारस्परिक सम्बंधों पर विचार करेंगे।

छन्द विरोधी विचारधारा : इसके समर्थकों में से अरस्तू, कॉलरिज, सिडनी आदि नाम प्रमुख हैं। अरस्तु का कहना है-'छन्द कविता का अनिवार्य माध्यम नहीं है। 'कॉलरिज के अनुसार' सर्वश्रेष्ठ काव्य की सत्ता बिना छन्द के भी सम्भव है।' इस तरह काव्य में छन्दों की वैकल्पिक स्थिति माननेवालों ने छन्द के विरोध में आक्षेप व्यक्त करते हुए कहते हैं कि-

१. मनुष्य की विचार-प्रक्रिया छन्द विहीन होती है, फिर उन विचारों की अभिव्यक्ति छन्दों में क्यों की जाय, क्योंकि ऐसे करने से विचारों की स्वाभाविकता नष्ट हो जाएगी।

२. छन्द प्राचीन परम्परा के प्रतिनिधि है, उनमें कोई नवीनता नहीं है; लेकिन कवि प्रत्येक भाव को नवीन जनरुचि के आधार पर लिखता है।

३. छन्द एक प्रकार का बंधन है, जो कलाकार की स्वाभाविक अभिव्यक्ति में बाधा डालता है। भावों को छन्दों में बाँधने के लिए कवि को भावों को तोड़ना-मरोड़ना पड़ता है अथवा अनावश्यक शब्दों की भर्ती करनी पड़ती है; जिसके फलस्वरूप भाव एवं भाषा-दोनों का रूप विकृत होने की संभावना रहती है।

इस तरह काव्य में छन्द-विरोधी विचारकों ने कविता को छन्द से मुक्त रखना चाहते हैं। उनके अनुसार छन्द न तो कविता का मूल तत्व हैं और न ही अनिवार्य अंग।

छन्द समर्थक विचारधारा : इसके विपरीत छन्द समर्थक विचारकों ने कविता के लिए छन्द की अनिवार्यता स्वीकार करते हुए कहते है कि-आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक काव्य में छन्दों की अनिवार्यता स्वीकार की जाती रही हैं। अत: छन्द समर्थक विचारकों का कहना है कि-

१. काव्य और छन्द का परस्पर अटूट सम्बंध है; इसका सबसे अधिक पुष्ट प्रमाण यही है कि प्राचीन काल के जितने भी महाकवि हुए हैं उन सबने छन्दों का प्रयोग किया है, और जितने भी महाकाव्य रचे गये हैं वे सभी छन्दों में हैं।

२. छन्दों के प्रयोग से काव्य में प्रभाविष्णुता आती है और सुगमता से कण्ठस्थ होने के कारण काव्य लुप्त नहीं होता।

३. छन्दों के प्रयोग से कवि अपने भावों को व्यक्त करने में अधिक सफल होता है; क्योंकि छन्द कवि के भावों को उश्रृंखल नहीं होने देते हैं।

४. छन्द रसात्मक अनुभूति का सहज माध्यम है। यही कारण है कि व्यक्ति जब तीव्र भावावेग में आता है तो उस समय वह बोलने की अपेक्षा गीत गाना ही अधिक पसन्द करता है। अत: छन्द काव्य का अनिवार्य तत्व है।

५. छन्द ही वह वस्तु है जिसकी उपस्थिति से पद्य की भाषा गद्य की भाषा से भिन्न बन जाती है।

ऊपरिउक्त दोनों विचारधाराएँ अतिवादी लगते हैं। छन्द और कविता के पारस्परिक समन्वय तथा सम्बंध को देखने के लिए हमें दोनों विचारधाराओं का सम्यक रूप से मूल्यांकन करना होगा। इस सन्दर्भ में विलियम वर्ड्सवर्थ का मत दिया जा सकता है। वर्डस्वर्थ यह मानते हैं कि काव्य-रचना के समय भावावेश का नियमन करना पड़ता है। भावावेश के क्षणों में कविता नहीं रची जाती। उनके अनुसार काव्य-रचना के दो सोपान होते हैं-अनुभूति और अभिव्यक्ति। अनुभूति और अभिव्यक्ति के मध्य अन्तराल होता है, चाहे वह कितना ही न्यून क्यों न हो। अत: कवि अनुभूति होने पर उस पर चिन्तन-मनन करता है, फिर उसे अभिव्यंजित करता है।

इस प्रकार कवि अपनी अनुभूति को चिन्तन-प्रक्रिया द्वारा नियंत्रित करता है और इसी नियम के द्वारा छन्द की उत्पत्ति होती है और छन्द में कवि भावों को व्यवस्था देता है। इसी सन्दर्भ कविता में छन्द की महत्ता है। अत: हम कह सकते हैं कि कविता के लिए छन्दों की महत्वा है। वे भावों का उद्रेक तो करते ही हैं, उनमें तीव्रता भी प्रदान करते हैं।

छन्द की परिभाषा या लक्षण :

शब्दों की व्यवस्था को छन्द कहते है।' अक्षरों की संख्या एवं क्रम, मात्रागणना तथा यति-गति से सम्बध्द विशिष्ट नियमों से नियोजित पद्य-रचना 'छन्द' कहलाती है।' छन्द की प्रथम चर्चा ऋग्वेद में हुई है। यदि गद्य का नियामक व्याकरण है तो कविता का छन्दशास्त्र। छन्दशास्त्र के आदि प्रणेता आचार्य पिंगल थे, जिनके नाम पर छन्द शास्त्र को पिंगल भी कहा जाता है।

छन्द हृदय की सौन्दर्य भावना जागरित करते हैं। तुक छन्द का प्राण है,-यही हमारी आनन्द-भावना को प्रेरित करती है। गद्य में शुष्कता रहती है और छन्द में भाव की तरलता। यही कारण है कि गद्य की अपेक्षा छन्दोबध्द पद्य हमें अधिक आकर्षित करता है।

अत: छन्द की सरल परिभाषा इस प्रकार दे सकते हैं-

'निश्चित वर्णों या मात्राओं की विराम, गति या यति-आदि से बँधी हुई शब्द-योजना को छन्द कहते हैं।'

छन्द में मात्रा, यति, गति, गण, लघु, गुरु, चरण आदि पर विचार किया जाता है।

मात्रा और वर्ण :

'किसी वर्ण के उच्चारण में जो समय लगता है, उसे मात्रा कहते हैं।' वर्ण दो प्रकार के होते है-(क) ह्रस्व या लघु, (ख) दीर्घ या गुरु। अतः मात्राएँ लघु और दीर्घ होती हैं। लघु का चिह्न (1) और गुरु का चिह्न (S) है। लघु की एक मात्रा और गुरु की दो मात्राएँ गिनी जाती हैं। जैसे-

१. कमल (I I I) -तीन मात्राएँ, २. राजा (S S)=चार मात्राएँ। इसी तरह-

'गुन अवगुन जानत सब कोई' में १६ मात्राएँ हैं, लेकिन वर्ण १३ हैं।

मात्रा गिनने के कुछ नियम :

१. अ,इ,उ-इन ह्रस्व स्वरों तथा इनमें युक्त एक व्यंजन या संयुक्त व्यंजन को लघु (।) समझा जाता है। जैसे-कलम (I I I)-अर्थात इसमें तीनों वर्ण लघु हैं।

२. आ,ई,ऊ, ऋ आदि दीर्घ स्वर और इनसे युक्त व्यंजन गुरु दोते हैं। जैसे राजा, दीदी, दादी, इत्यादि में चिह्न होगा-(SS)

३. चन्द्रबिन्दुवाले ह्रस्व भी लघु, होते हैं। जैसी-'हँसी' में 'हँ' लघु है।

४. संयुक्ताक्षर से पहले का वर्ण गुरु माना जाता है। जैसे 'असत्य' में 'स' गुरु (S) अर्थात २ मात्राओं का गिना जायेगा।

५. विसर्गयुक्त वर्ण भी गुरु होता है। जैसे 'दुःख' में 'दु' गुरु (S) माना जायेगा।

६. कहीं-कहीं उच्चारण पर जोर न पड़ने से गुरु को लघु माना जाता है। जैसे-'मोहि उपदेश दीन्ह गुरु नीका'-में 'मो' लघु है।

यति : 'यति' का अर्थ विराम या विश्राम है। 'चरण की निश्चित या निर्दिष्ट गति के ठहराव को यति कहते हैं।' जैसे-

'जीभ निबौरी, क्यों लगे, बौरी, चासि अंगूर'-में 'निबौरी', 'लगे', 'बौरी' पर यति है।

गति : 'छन्द की नियंत्रित धारावाहिकता को गति कहते है।' गति पर ही छन्द की संगीतात्मकता, माधुर्य और सुन्दरता निर्भर है।

तुक : 'छन्द के प्रत्येक चरण के अन्त में एक ही अक्षर आने को तुक कहते है।' तुक ही छन्द का प्राण है। छन्द तुकांत और अतुकांत दो प्रकार के होते हैं। चरण का अंतिम वर्ण समान होने पर तुकांत और असमान होने पर अतुकांत होता है।

चरण : चरण को 'पद' या पाद भी कहते हैं। छन्दों के प्रायः चार चरण होते हैं। लेकिन एक छन्द में चार से अधिक चरण भी हो सकते हैं। प्रत्येक चरण में वर्णों या मात्राओं की संख्या क्रमानुसार नियोजित रहती है। चरण या पाद दो तरह के होते हैं-सम चरण और विषम चरण। प्रथम और तृतीय चरण को 'विषम' और द्वितीय तथा चतुर्थ को 'सम' चरण कहते हैं।

गण : तीन वर्णों के समूह को गण कहते हैं। गण आठ होते हैं-१. यगण, २. मगण, ३. तगण, ४. रगण, ५. जगण, ६. भगण, ७. नगण, ८. सगण।

गणों की मात्रा या रूप जानने के लिये एक सूत्र का सहारा लिया जा सकता है, यथा **'यमाताराजभानसलगा'** इस सूत्र में दस वर्ण हैं। पहले आठ से आठ गणों का ज्ञान होता है और अंतिम दो से लघु और गुरु का। गण बनाने के लिए, जो गण बनाना हो वह अक्षर लेकर और उनके साथ अगले दो अक्षर मिलाना चाहिए, तो उस गण के लघु-गुरु वर्णों की स्थिति स्पष्ट हो जाता है। जैसे-पहला अक्षर 'य' है, इससे पहला गण 'यगण' हुआ। इसके (य) साथ दो वर्ण 'माता' मिलाने से 'यमाता' (ISS) बन जाता है। यह 'यगण' की स्थिति हुई। इस प्रकार बने आठ गणों की स्थिति अर्थात रूप या मात्रा नीचे स्पष्ट किया गया है-

यमाता (I S S)-यगण (ISS) - आदि लघु और शेष दो गुरु।

मातारा (S S S) - मगण (SSS) - सर्वगुरु अर्थात गुरु-गुरु-गुरु।

ताराज (S S I) - तगण (SSI) - दो गुरु और अन्त लघु।

राजभा (S I S) - रगण (SIS) - मध्य लघु अर्थात गुरु-लघु-गुरु।

जभान (I S I) - जगण (ISI) - मध्य गुरु अर्थात लघु-गुरु-लघु।

भानस (S I I) - भगण (SII) - आदि गुरु अर्थात गुरु-लघु-लघु।

नसल (I I I) - नगण (III) - सर्व लघु अर्थात लघु-लघु-लघु।

सलगा (I I S) - सगण (IIS) - अन्त गुरु अर्थात लघु-लघु-गुरु।

छन्दों के भेद : मात्रा और वर्णों की गणना तथा व्यवस्था के अनुसार छन्दों के दो भेद होते हैं-

१. मात्रिक छन्द और

२. वर्णिक छन्द

१. मात्रिक छन्द : मात्रा की गणना पर आधारित छन्द मात्रिक छन्द कहलाता है। 'दोहा' चौपाई' आदि छन्द मात्रिक छन्द हैं।

२. वर्णिक छन्द : केवल वर्णगणना के आधार पर रचा गया छन्द वर्णिक छन्द कहलाता है। इसमें लघु-गुरु का क्रम निश्चित नहीं होता, केवल वर्णसंख्या ही निर्धारित रहती है।

वर्णिक और मात्रिक छन्दों में से प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं। इन सभी भेदों की तालिका इस प्रकार हैं-

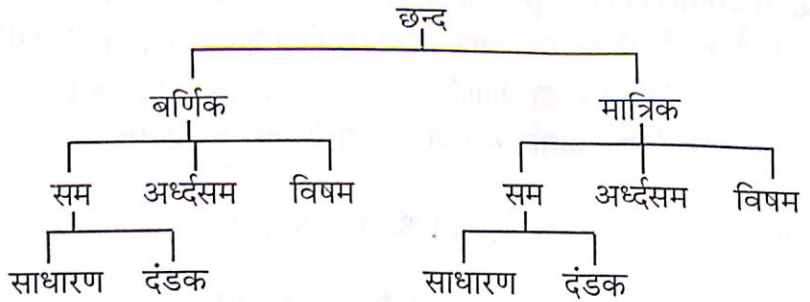

प्रमुख छन्दों का परिचय :

चौपाई : 'सोलह कल जत अन्तन दीजै।
चौपाई शुभ छन्द रच लीजै।'

चौपाई छन्द के प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं और इसके अतं में जगण (ISI) और तगण (SSI) नहीं होती है; जैसे-

I I S S I S I I S S=16
जबते राम व्याह घर आए।
नित नव मंगल मोद बढ़ाए॥
भुवन चारि दर भूधर भारी।
सुकृत मेघ वरषहि सुखबारी॥

प्रस्तुत उदाहरण के प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ हैं और किसी भी चरण के अंत में 'जगण' (ISI) और 'तगण' (SSI) नहीं है। अतः यह चौपाई छन्द का उदाहरण है।

रोला : 'ग्यारह तेरह यती, कल चौबीस कह रोला'-यानी रोला छन्द में २४ मात्राएँ होती है और ग्यारह तथा तेरह में यति होती है। जैसे-

2 1 1 2 1 1 2 1 1 2 2 2 1 1 2 1 1=24
भूल गये हम जीवन का संदेश अनश्वर।
मृतकों के हैं मृतक, जीवितों का है ईश्वर॥

इस प्रकार हमने देखा कि उपर्युक्त उदाहरण में २४ मात्राएँ हैं; किन्तु प्रथम पंक्ति में यति-भंग है, पर दूसरे में यति सही जगह में है। अतः प्रस्तुत उदाहरण में रोला छन्द स्पष्ट है।

दोहा :

'विषम चरण तेरह कला, सम ग्यारह निरधार।
प्रथम तृतीय वर्जित जगण, दोहा विविध प्रकार।'

अर्थात दोहा के प्रथम और तृतीय चरणों में १३ मात्राएँ तथा द्वितीय और चतुर्थ चरणों में ११ मात्राएँ होती हैं; साथ ही प्रथम एवं तृतीय चरण का प्रारंभ 'जगण' (ISI) से नहीं होता है। जैसे-

2 2 1 1 2 2 1 2 2 2 2 1 1 2 1=24
'मेरी भव बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाईं परै, स्यामु हरित दुति होइ॥

प्रस्तुत उदाहरण के विषम (प्रथम और तृतीय) चरणों में १३ मात्राएँ हैं और सम (द्वितीय और चतुर्थ) चरणों में ११ मात्राएँ हैं; साथ ही इसकी विषम चरणों का प्रारंभ 'जगण' से नहीं हुआ है। इसलिए उपर्युक्त उदाहरण दोहा छन्द का है।

सोरठा : 'दोहा उल्टे सोरठा होय'

'सोरठा' छन्द दोहा का उल्टा होता है। इसके प्रथम और तृतीय चरणों में ११ मात्राएँ हैं और द्वितीय तथा चतुर्थ चरणों में १३ मात्राएँ होती हैं। एक उदाहरण-

2 1 2 1 2 2 1 2 1 1 2 1 1 1 1 1 1 1 = 24
मूक होइ बाचाल, पंगु चढ़ै गिरिवर गहन।
जासु कृपासु दयाल, द्रबौ सकल कलिमल दहन॥

उपर्युक्त उदाहरण के विषम (प्रथम और तृतीय) चरणों में ११ मात्राएँ और सम (द्वितीय और चतुर्थ) चरणों में १३ मात्राएँ हैं। अत: यह सोरठा छन्द का उदाहरण है।

बरवै : बरवै १९ मात्राओं का छन्द है। इसके विषम अर्थात प्रथम और तृतीय चरणों में १२ और सम चरण अर्थात द्वितीय और चतुर्थ चरणों में ७ मात्राएँ होती हैं। चरणांत में लघु होना अनिवार्य है। जैसे-

1 1 1 1 S S 1 1 1 1 S 1 1 S 1 = 19
'अवधि शिला का उर पर, था गुरु भार।
तिल-तिल काट रही थी, दृग जल-धार॥ - प्रसाद

इसमें १९ मात्राएँ हैं, जिसके विषम चरणों में १२ मात्राएँ और सम चरण में ७ मात्राएँ हैं। साथ ही चरणांत लघु है। अत: यह बरवै छन्द का उदाहरण है।

उल्लाला : इस छन्द के प्रत्येक चरण में १३ मात्राएँ होती हैं। यद्यपि इसके अंत में लघु (I) गुरु (S) का कोई विशेष नियम नहीं है, तथापि ११ वी मात्रा लघु ही रहती है। जैसे-

S 1 1 1 1 1 1 S 1 S = 13
'निर्मल मति मन में सदा,
उठता यह उद्‌गार है।
सुगति स्वर्ग अपवर्ग का,
गुरु-प्रसादही द्वार है।'

इस उदाहरण के प्रत्येक चरण १३ मात्राओं का है और किसी चरण के ११ वीं मात्रा गुरु नहीं, लघु है। अत: यह स्पष्ट रूप से उल्लाला छन्द का उदाहरण है।

गीतिका : 'रत्न रविकल धारिकै लग अंत रचिए गीतिका' गीतिका २६ मात्राओं का छन्द हैं। इसमें १४ और १२ मात्राओं पर यति होती है और अंत में क्रमश: लघु एवं गुरु रहती हैं। यथा-

S 1 S S S 1 S S S 1 S 1 1 S 1 S = 26
साधु भक्तों में सुयोगी, संयमी बनने लगे।
सभ्यता की सीढ़ियों कर, सूरमा चढ़ने लगे।
वेद-मंत्रों को विवेकी, प्रेम से पढ़ने लगे।
वंचकों की छातियों में, शूल हैं गड़ने लगे।'

प्रस्तुत उदाहरण के प्रत्येक चरण में २६ मात्राएँ हैं, जिसके १४ और १२ पर यति है। साथ ही अंत में लगु-गुरु का प्रयोग क्रमश: हुआ है। अत: यह गीतिका छन्द का उदाहरण है।

हरिगीतिका : 'षोउस द्वादश अंत लग करि, गाइये हरिगीतिका' अर्थात हरिगीतिका छन्द २८ मात्राओं का है। इसके १६ तथा १२ मात्राओं पर यति होती है। अंत में क्रमश: लगु और गुरु होती हैं। एक उदाहरण-

1 1 1 1 1 S 1 1 S 1 1 1 1 1 1 S 1 S 1 1 S 1 S=28
सुनकर जयद्रथ का कथन हरि, को हँसी कुछ आ गयी।
गंभीर श्यामल मेघ में विद्युच्छता सीधा गयी।
कहते हुए यों वह न उनका, भूल सकता वेश है।
हे पार्थ प्रण पालन करो, देखो अभीदिन शेष है॥'

ताटंक : इस छन्द के प्रत्येक चरण में १६ और १४ मात्राओं पर यति से ३० मात्राएँ होती है और अंत में एक 'मगण' (SSS) होते हैं। जैसे-

1 1 S 1 1 S 1 1 S S S 1 1 1 1 S 1 1 S S S = 30
तड़पा कर के श्रवजीवों को, अति चूस चूस किसानों को।
कहलाते सरसेठ सवाई, कर भर आज खजानों को।'

इस तरह देखा जाता है कि इसके प्रत्येक चरग में १६-१४ मात्राओं से यह ३० मात्राओं का ताटंक छन्द का उदाहरण है। साथ ही यहाँ चरणांत में मगण (SSS) का प्रयोग हुआ। अत: यह एक ताटंक छन्द का उदाहरण है।

वीर या आल्हा : इसके प्रत्येक चरण में १६, १५ मात्राओं पर यति देकर ३१ मात्राएँ होती है। अन्त में गुरु (S), लघु (1) होना आवश्यक है। जैसे-

1 1 1 1 s s 1 1 s s s s s 1 1 s s 1 s 1 = 31
'सुमरि भवानी जगदम्बा को, औ शारद को शीश नबाय।
आदि सरसूति तुम का धावौं, माता कण्ठ विराजो आय॥'

अत: प्रस्तुत उदाहरण में १६ और १५ पर यति होकर ३१ मात्राएँ मौजुद हैं, तथा अंत में क्रमश: गुरु-लघु की व्यावस्था भी है। फलत: यह वीर या आल्हा छन्द का उदाहरण है।

कुण्डलिया : इसमें छह चरण होते हैं। प्रत्येक चरण में २४ मात्राएँ होती हैं। दोहा और रोला को मिलाकर यह छन्द बनाया जाता है। प्रारंभ में दोहा के दो चरण तथा बाद के चार चरण रोला के होते हैं। दोहा के अंतिम चरण को रोला के प्रथम चरण में दोहाराया जाता हैं। जिस शब्द से यह प्रारंभ किया जाता है अंत भी उसी शब्द से होता है। एक उदाहरण-

2 1 1 2 1 1 2 1 2 1 1 2 2 1 1 2 1 = 24
'दौलत पाय न कीजिए, सपने में अभिमान।

2 1 1 1 1 1 1 2 1 2 2 1 1 1 1 1 2 1 = 24
चंचल जल दिन चारि को, ठाँउ न रहत निदान।

2 1 1 1 1 1 2 1 1 1 1 2 1 1 2 2 2 = 24
ठाँउ न रहत निदान, जियत जग में जस लीजै।
मीठे वचन सुनाय, विनय सब ही की कीजै।
कह गिरिधर कविराय, यह सब घर-दौलत।
पाहु न निसि दिन धारि, रहत सब ही के दौलत॥'

इस प्रकार हमने देखा है कि उपर्युक्त उदाहरण में दोहा और रोला का मिश्रण है। १३ और ११ तथा ११-१३ पर यति हैं। दोहा का अंतिम चरण रोला का प्रथम चरण है, और जिस शब्द से छन्द का प्रारंभ हुआ है उसी शब्द से छन्द का अंत भी हुआ। अत: यह उदाहरण कुण्डलिया छन्द का है।

छप्पय : यह भी छह चरणों का छन्द है। प्रथम चार चरण रोला के और अंतिम दो चरण उल्लाला के होते हैं। प्रथम चार चरणों में ११-१३ पर तथा अंतिम दो चरणों में १५-१३ पर यति होती हैं। यथा-

1 1 s 1 1 s s 1 s 1 1 1 1 s 1 s s = 24
'जिसकी रज में लोट, लोट कर बड़े हुए हैं।
घुटनों के बल सरक, सरक कर खड़े हुए हैं॥
परम हंस सम बाल्यकाल में सब सुख पाये।
जिसके कारण धूल, भरे हीरे कहलाये॥

1 1 s s s s s 1 1 1 1 1 s s s s 1 s = 28
हम खेलें-कूदें हर्ष युत, जिसकी प्यारी गोद में।
हे मातृभूमि! तुझको निरख, मग्न क्यों न हो मोद में॥

प्रस्तुत उदाहरण में चार चरण रोला के हैं और दो चरण उल्लाला के हैं। प्रथम चार चरणों में ११-१३ पर यति और अंतिम दो चरणों में १५-१३ मात्राओं पर यति हैं। अत: यह उदाहरण छप्पय छन्द का है।

पध्दरि : इसके प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं। प्रत्येक चरण के अंत में जगण (ISI) होती है। यथा-

s 1 1 s s 1 1 s 1 s 1 = 16
'अम्बर में कुन्तल जाल देख,
पद के नीचे पाताल देख।
मुट्ठी में तीनों काल देख,
मेरा स्वरूप विकराल देख।'

इस तरह देखा जाता है कि उपर्युक्त उदाहरण के प्रत्येक चरण १६ मात्राओं का हैं और हर एक चरण के अंत में 'जगण' (ISI) की व्यवस्था है। इसलिए प्रस्तुत उदाहरण पध्दरि छन्द का है।

इन्द्रवज्रा : 'है इन्द्रवज्रा ततजागगा से'

इन्द्रवज्रा की प्रत्येक चरण में ११ वर्ण होते हैं, जो क्रमश: तगण (SSI), तगण (SSI), जगण (ISI) और दो गुरु (SS) के रूप में रखे जाते हैं। एक उदाहरण-

'मैं राज्य की चाह नहीं करूँगा,

है जो तुम्हें इष्ट वही करूँगा।

सन्तान जो सत्यवती जनेगी,

राज्याधिकारी वह ही बनेगी॥'

प्रस्तुत उदाहरण के प्रत्येक चरण में ११ वर्णों का प्रयोग हुआ और उन्हें तगण (SSI), तगण (SSI), जगण (ISI) और दो गुरु (SS) वर्णों से युक्त किया गया है। इसलिए यह इन्द्रवज्रा छन्द का उदाहरण है।

उपेन्द्रवज्रा : 'उपेन्द्रवज्रा जतजागगा से'

उपेन्द्रवज्रा में ११ वर्ण होते हैं। उनको क्रमश: जगण (ISI), तगण (SSI), जगण (ISI) के रूप में रखी जाती हैं और अंत में दो गुरु वर्णों का विधान होती है। यथा -

'बड़ा कि छोटा कुछ काम कीजै।

परन्तु पूर्वापर सोच लीजै॥

बिना विचारे यदि काम होगा।

कभी न अच्छा परिणाम होगा॥'

इस प्रकार हमने देखा कि प्रस्तुत उदाहरण में ११ वर्ण हैं, जिनका विधान जगण, तगण, जगण और दो गुरु वर्णों के साथ हुआ है। अत: यह उदाहरण उपेन्द्रवज्रा छन्द का है।

तोटक : 'सससास कहे सब तोटक को'

चार सगण (IIS, IIS, IIS, IIS) के प्रयोग से जहाँ १२ वर्ण होते हैं वहाँ तोटक छन्द होता है। जैसे-

निज गौरव का नित ज्ञान रहे।

हम भी कुछ हैं यह ध्यान रहे॥

सब जाय अभी पर मान रहे।

मरणोत्तर गुंजित गान रहे॥'

उपर्युक्त उदाहरण के प्रत्येक चरण में १२ वर्ण हैं और चार सगण का प्रयोग हुआ है। इसलिए यह तोटक छन्द का उदाहरण है।

भुजंगप्रयात : 'भुजंगप्रयाता चार या से'

भुजंगप्रयात छन्द में १२ वर्ण होते हैं, जो क्रमश: चार यगण (ISS, ISS, ISS, ISS) से गठित होते हैं। जैसे-

अरी व्यर्थ है व्यंजनों की बड़ाई।

हटा थाल तू क्यों इसे साथ लाई॥

वही पार है जो बिना भूख भावै।

बता किन्तु तूही उसे कौन खावै॥'

इस प्रकार हमने देखा कि उपर्युक्त उदाहरण में बारह वर्ण हैं और चार 'यगण' का भी विधान है। इसलिए यह भुजंगप्रयात छन्द का उदाहरण है।

वंशस्थ : 'सुजान वंशस्थ कहै जताजरा'

वंशस्थ छन्द में १२ वर्ण होते हैं, जो क्रमश: जगण (ISI), तगण (SSI), जगण (ISI) और रगण (SIS) के रूप में रखे जाते हैं; यथा-

'सगर्व बोला तब कर्ण भूप से,

अमान्य है दुर्मतिपूर्ण मंत्रणा।

परास्त होना रणपूर्व शत्रु से;

विचार्य है केवल बृध्द वुध्दि से॥'

इस उदाहरण के प्रत्येक चरण में १२ वर्ण हैं, जिन्हें क्रमशः जगण, तगण, जगण और रगण के रूप में प्रयोग की गई हैं। अतः यह ''वशस्थ'' छन्द का उदाहरण है।

द्रुतविलम्बित : 'द्रुतविलम्बित हो नभभार से'

द्रुतविलम्बित छन्द में १२ वर्णों का प्रयोग होता है, जिसमें क्रमशः नगण (III), भगण (SII), भगण (SII), और रगण (SIS) रखा जाता है। जैसे-

'दिवस का अवसान समीप था;
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु शिखा पर थी अब राजती;
कमलिनी कुल बल्लभ की प्रभा॥'

प्रस्तुत उदाहरण में हमने देखा कि इसके प्रत्येक चरण में १२ वर्णों का प्रयोग हुआ है, साथ ही इसमें नगण, भगण, भगण और रगण को क्रमशः रखा गया है। इसलिए यह द्रुतविलम्बित छन्द का उदाहरण है।

वसन्ततिलका : 'होवे वसन्ततिलका तभजा जगागा'

वसन्ततिलका छन्द में १४ वर्ण होते हैं; जो क्रमशः तगण (SSI), भगण (SII), जगण (ISI), जगण (ISI) और दो गुरु (SS) के रूप में रखे जाते हैं। यथा-

सारंग ने सुमन ने नभ ने पिकी ने।
पुष्पौध में पवन में महिमें हियेमें।
गुंजार से सुरभि से छवि से स्वरों से।
उद्भान्ति क्रान्ति शुचिता मृदुता प्रचारी॥'

इस प्रकार हमने देखा कि प्रस्तुत उदाहरण में क्रमशः तगण, भगण, जगण, जगण और दो गुरु वर्णों का विधान किया गया है; साथ ही इसके प्रत्येक चरण में १४ वर्ण हैं। अतः यह वसन्ततिलका छन्द का उदाहरण है।

मन्दाक्रान्ता : 'मन्दाक्रान्ता फल, रस, यती माभनाता तगागा'

मन्दाक्रान्ता छन्द में चार और छह वर्ण पर यति होती है तथा इसमें क्रमशः मगण (SSS), भगण (SII), नगण (III), तगण (SSI), तगण (SSI) और दो गुरु (SS) वर्णों का विधान होता है। एक उदाहरण-

'दो बंशों में, प्रकट करके, पावनी लोक लीला।
सौ पुत्रों से, अधिक जिनकी, पुत्रियाँ पुण्यशीला।
त्यागी भी है, शरण जिनके, जो अनासक्त गेही।
राजा योगी, जन जन कवे, पुण्य देही विदेही॥'

इस उदाहरण में मगण, भगण, नगण, तगण, तगण और अंत में दो गुरु वर्णों का प्रयोग (विधान) क्रमशः किया गया है, साथ ही इसमें चार और छह वर्ण पर यति भी है। इसलिए उपर्युक्त उदाहरण मन्दाक्रान्ता छन्द का है।

शिखरिणी : शिखरिणी छन्द के प्रत्येक चरण में यगण (ISS), मगण (SSS), नगण (III), सगण (IIS), भगण (SII) और अंत में एक-एक लघु-गुरु वर्ण के क्रम से १७ वर्ण होते हैं। इसके ६ तथा ११ वर्ण पर यति होती है। जैसे-

'मनोभावों के हैं, शतदल जहाँ शोभित सदा,
कलाहंस-प्रेमी, सरस रस क्रीड़ा निरत है,
जहाँ हृत-तंत्री, स्वर लहरिका नित्य उठती,
पधारों हे वाणी, वनकर वहाँ मानस प्रिया।'

इस प्रकार देखा जाता है कि प्रस्तुत उदाहरण में क्रमशः यगण, मगण, नगण, सगण, भगण के साथ अंत में लघु और गुरु का विधान है। यहाँ प्रत्येक चरण में १७ वर्ण होने के साथ साथ ६ और ११ पर यति भी है। अतः यह 'शिखरिणी' छन्द का उदाहरण है।

मालिनी : इसके प्रत्येक चरण में १५ वर्ण होते है; आठवें तथा सातवें वर्ण पर यति होती है। प्रत्येक चरण में दो नगण (III, III), मगण (SSS) और दो यगण (ISS, ISS) होते हैं। जैसे-

1 1 1 1 1 1 s s s 1 s s 1 s s
'प्रिय पति वह मेरा, प्राण प्यारा कहाँ है ?
सुख-दुख जल-निधि में डूबी का सहारा कहाँ है ?
पल-पल जिसका नाम ले जी सकूं हूँ,
वह हृदय हमारा, नैन तारा कहाँ है ?'

प्रस्तुत उदाहरण में क्रमशः दो नगण, मगण और दो यगण के रूप में १५ वर्ण हैं, साथ ही ८ और ७ वर्ण पर यति भी है। इसलिए यह मालिनी छन्द का उदाहरण है।

शर्दूलविक्रीड़ित : 'श्री सूर्य स्वर मास जास ततगा शार्दूलविक्रीड़िता'

शार्दूलविक्रीड़ित छन्द में मगण (SSS), सगण (IIS), जगण (ISI) सगण (IIS), तगण (SSI), तगण (SSI) और एक गुरु (S) वर्ण का विधान होता है, साथ ही १२ और ७ वर्ण पर यति होती है। इस प्रकार इस छन्द का प्रत्येक चरण १९ वर्णों का होता है। जैसे-

s s s 1 1 s 1 s 1 1 1 s s s 1 s s 1 s
'सायंकाल हवा समुद्रतट की, आरोग्य कारी यहाँ,
प्रायः शिक्षित सभ्य लोग नितही, जाते इसीसे वहाँ,
बैठे हास्य-विनोद-मोद करते, सानन्द वे दो घड़ी,
सो शोभा उस दृश्य की हृदय में, है तृप्ति देती बड़ी।'

प्रस्तुत उदाहरण के प्रत्येक चरण में क्रमशः मगण, सगण, जगण, सगण, दो तगण और एक गुरु वर्ण का प्रयोग हुआ है; इसके साथ ही १२-७ पर यति है और प्रत्येक चरण में १९ वर्ण हैं। अतः यह शर्दूलविक्रीड़ित छन्द का उदाहरण है।

सवैया : सवौया छन्द वर्णों पर आधारित हैं। २२ वर्णों से लेकर २६ वर्णों तक 'सवैया' हो सकती है। इसके अनेक भेद हैं; जैसे-मदिरा, मत्तगयंद, सुमुखी, दुर्मिल, किरीट, कुन्दला, सुन्दरी, चकोर सवैया आदि। यहाँ मदिरा सवैया और सुन्दरी सवैया का परिचय दिया गया है।

मदिरा सवैया : इसके प्रत्येक चरण में सात भगण (SII) और अंत में एक गुरु (S) के संयोग से २२ वर्ण होते हैं। एक छोटा सा उदाहरण देखिए-

s 1 1 s 1 1 s 1 1 s 1 1 s 1 1 s 1 1 s = 22
'तोरि सरासन संकर कौ, सुभ सीय स्वयंवर माँहि बरी।
ताते बढयो अभिमान महा, मन मेरियो नेक न संक घरी।'

सुन्दरी सवैया : इसके प्रत्येक चरण में आठ सगण (IIS) और अंत में एक गुरु (S) मिलाकर २५ वर्ण होते हैं। जैसे-

1 1 s 1 1 s 1 1 s 1 1 s 1 1 s 1 1 s 1 1 s 1 1 s 1 1 s s
'पद कोमल श्यामल गौर कलेवर राजन कोटि मनोज लगाए।
कर वान सरासन सीस जटासरसीरुह लोचन सोन सहाए॥'

इस उदाहरण के प्रत्येक चरण में २५ वर्ण हैं, जो आठ सगण (IIS) और एक गुरु (S) के संयोग से हुई है। अतः यह सुन्दरी सवैया का उदाहरण है।

मनहरण कवित्त : इसके प्रत्येक चरण में १६, १५ पर यति देकर ३१ वर्ण होते हैं। अंतिम वर्ण गुरु होना अनिवार्य है। साथ ही ८,८,८,७ वर्णों पर यति रखने का विधान भी है। एक उदाहरण-

'इन्द्र जिमि जंभ पर, बाड़व सुअंब पर,
रावन सदम्भ पर, रघुकुल राज है।
पौन वारि बाह पर, संभु रति-नाह पर,
ज्यौं सहस्रबाहु पर, राम द्विजराज है॥'

प्रस्तुत उदाहरण के प्रत्येक चरण में ३१ वर्ण हैं, जहाँ १६ और १५ वर्णों पर यति है; साथ ही अंत में एक गुरु भी हैं। पुरे छन्द में ८,८,८,७ पर भी यति है। इस तरह उपर्युक्त उदाहरण मनहरण कवित्त छन्द का ही उदाहरण है।

रूप घनाक्षरी : इसके प्रत्येक चरण में १६-१६ वर्णों के विराम से ३२ वर्ण होते हैं। चरण के अंत में लघु-गुरु की अनिवार्य योजना होती है। ८-८ वर्ण पर यति होने से अधिक रोचकता आ जाती है। जैसे-

'जिसको श्रवण कर, नर पशु-पक्षी सभी,
सुध-बुध भूलते थे, मंत्र-मुग्ध के समान।
प्रार्थना यही है मुझको भी एक बार वही,
मुरली मनोहर सुना दो मुरली की तान॥'

प्रस्तुत उदाहरण के प्रत्येक चरण में ३२ वर्ण हैं, १६-१६ पर यति की व्यवस्था तो है ही, साथ ही ८-८ वर्ण पर भी यति है। चरणांत में लघु-गुरु की योजना भी है। अतः उपर्युक्त उदाहरण रूप घनाक्षरी छन्द का है।

■■■

पंचम अध्याय

रस

भूमिका : रस काव्यानन्द का पर्याय है। अर्थात काव्यजनित आनन्द को रस कहते है। 'रस' शब्द 'रस्' धातु और 'अच्' प्रत्यय से बना है। अतएव 'रस' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है-'रस्यते आस्वाद्यते रसः' अर्थात् रस वह है जो आस्वादित किया जाए, अथवा 'रसइतिरसः' अर्थात् रस वह है जो बहता है। इस प्रकार रस में अन्तनिर्हित विशेषताएँ हैं-आस्वाद्यता और द्रवत्व।

काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम आचार्य भरतभूनि ने रस का उल्लेख किया है। उन्होंने यह बताया है कि नाट्यनिर्माण में ब्रह्मा ने अथर्ववेदसे रस-रूप ग्रहण किया है। भरत से पूर्व आचार्य नन्दिकेश्वर ने रस के महत्व को स्वीकार किया था; लेकिन उनका ग्रन्थ अप्राप्त रहा। जनश्रुति के अनुसार नन्दिकेश्वर ही रस के प्रथम आचार्य है। आचार्य राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में यह स्वीकार किया है कि-

'रूपकनिरूपणीयं भरतः रसाधिकारिकः नन्दिकेश्वरः'

नन्दिकेश्वर ने रस को ब्रह्मानन्द के आनन्द के समान बताया है और आचार्य भरत ने यह स्वीकारा है कि नाट्यरस ब्रह्मानन्द आनन्द से भी अधिक होता है।

रस का स्वरूप :

'काव्य (दृश्य और श्रव्य दोनों प्रकार के काव्य) को पढ़ने-सुनने अथवा नाटक को देखने से हृदय में अवस्थित रति, शोक, उत्साह आदि भावों में से किसी एक के निष्पन्न होकर प्रकाशित हो जाने से जिस अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है, उसे काव्य में रस कहते है।'

मानवहृदय भावों का महासागर है। उसके हृदय में अगणित भाव प्रसुप्तावस्था (छिपा हुआ अवस्था) में रहते हैं। इन भावों के रति, शोक, उत्साह, हास, आश्चर्य, क्रोध, जुगुप्सा आदि कुछ प्रमुख भाग हैं। अनुकूल वातावरण पाकर तदनुसार उक्त भावों में कोई भाव जाग्रत हो जाता है और वह पूर्ण रूप से प्रकाशित होकर अलौकिक आनन्द प्रदान करता है। उदाहरण के लिए -सरोवर में लहरें प्रसुप्तावस्था में हैं, भूमि में सुगंध प्रसुप्तावस्था में हैं। सरोवर में पत्थर फेंकने

से उसमें लहरें निष्पन्न (प्रकाशित) हो जाती हैं और भूमि पर पानी पड़ने से उसकी सुगंध प्रकाशित हो जाती है। यही दशा मानव हृदय में भावों की हैं। जैसे-मानों, रंगमंच पर 'शकुन्तला' नाटक का अभिनय हो रहा है, दर्शक उसको देख रहे हैं। दुष्यन्त (आश्रय) के हृदय में शकुन्तला (आलम्बन) को देखकर 'रति' भाव जाग्रत होता है। शुकन्तला के सरल सौन्दर्य भ्रूभंग, हास्य, मधुर बातों तथा उपवन के रमणीय वातावरण से वह उद्दीप्त हो जाता है। दुष्यन्त के हृदय में रति भाव जाग्रत होकर उसके कथनों और चेष्टाओं से अभिव्यक्त होने लगता है। बीच-बीच में शंका, हर्ष, चपलता, रोमांच आदि छोटे-छोटे भाव उत्पन्न होकर रतिभाव में अन्तर्निहित होकर इसे पुष्ट करते हैं। इस प्रकार रति स्थायी भाव से श्रृंगार रस निष्पन्न (प्रकाशित) हो जाता है। यहाँ सहृदय दर्शकों के भावों का साधारणीकरण या सामाजीकरण होता है। अर्थात दुष्यन्त और शकुन्तला सामान्य स्त्री-पुरुष के रूप में उनके सामने आ जाते हैं और दुष्यन्त-शकुन्तला के भाव न रहकर सहृदय सामाजिकों के भाव हो जाते हैं। अर्थात प्रत्येक सहृदय दर्शक अपने को दृष्यन्त होने की अनुभूति करता है और इस रूप में उसकी प्रेमिका या प्रियतमा ही शकुन्तला बन जाती है। इस प्रकार वह मूल पात्रों के साथ तादात्म्य करके अलौकिक आनन्द प्राप्त करता है। यही स्थिति प्रत्येक सहृदय दर्शक स्त्री की होती है। उसकी दृष्टि से उसका पति या प्रेमी दुष्यन्त रूप में अनुभवित होता है और इस प्रकार जो आनन्द प्राप्त होता है वह अलौकिक होता है और उस अवस्था को 'रस-दशा' कहलाता है। अतः 'लोक-व्यवहार में रति आदि भावों के जो कारण, कार्य और सहकारी कारण होते हैं, वे नाटक या काव्य में रति आदि स्थायी भावों के कारण, कार्य और सहकारी कारण कहे जाकर क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं, और उन विभावादि के द्वारा स्थायी भाव व्यक्त होकर 'रस' कहा जाता है।'

'रस' की परिभाषा :

'रस' शब्द 'रस्' धातु और 'अच्' प्रत्यय से बना है। इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है-'आस्वाद्यते इति रसः'। अर्थात रस वह है जो आस्वादित किया जाए। काव्य-रस का सबसे पहले शास्त्रीय विवेचन भरत मूनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में किया। भरत मूनि ने रस की परिभाषा इस तरह दिया है-

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति'-अर्थात विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भाव का संयोग होने पर रस-निष्पत्ति होती है। रस की परिभाषा जो भरत मूनि ने दी है, उसीका स्पष्टीकरण अबतक होता रहा।

आचार्य मम्मट ने रस की परिभाषा देते हुए लिखा है-

'व्यक्तः सवैविभावाधैः स्थायी भावो रसः स्मृतः।'-काव्यप्रकाश

आचार्य विश्वनाथ ने अपनी परिभाषा में रस के स्वरूप को विस्तार से स्पष्ट किया है-

'विभावेनानुभावेन व्यक्तः सन्चारिया तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम्॥
सत्वोद्रेकाद खण्ड स्वप्रकाशाननन्द चिन्मयः।
वेद्यान्तर स्पर्श शून्यो ब्रह्मास्वाद सहोदरः॥
लोकोत्तर चमत्कार प्राणःकश्चित् प्रभातृभिः।
स्वकारवदभिन्नत्वेनायमा स्वाद्यते रसः॥' -साहित्य दर्पण

अर्थात 'विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से व्यक्त होकर सहृदय के उद्रेक के हृदय में स्थित रति आदि स्थायी भाव ही 'रसत्व' प्राप्त कर लेते हैं। 'सत्व' के उद्रेक कारण यह रस अखण्ड, अद्वितीय, स्वयं प्रकाश स्वरूप आनन्दमय और चिन्मय होता है। इस रस के साक्षात्कार के समय दूसरे ज्ञातव्य विषयों का स्पर्श तक नहीं होता और इसलिए यह ब्रह्मानन्द के समान होता है। इस रस का प्राण ऐसा अलौकिक चमत्कार होता है, जिसकी उपलब्धि कुछेक सहृदय व्यक्तियों को ही होती है। इस रस के आस्वादन के समय रस-भोक्ता का इससे पृथक व्यक्तित्व नहीं रह जाता।' अतः

उपर्युक्त परिभाषा में रस की निम्नलिखित विशेषताएँ देखा जाता है-

१. सत्वोद्रेक : रस का आविर्भाव सतोगुण के उद्रेक की स्थिति में होता है। गुण तीन प्रकार के होते हैं-(क) सतोगुण, (ख) रजोगुण और (ग) तमोगुण। इनमें से सतोगुण के उद्रेक के क्षणों में ही रसानुभूति होती है, इतर क्षण में नहीं।

२. अखण्डस्य : रस अखण्ड है, इसका कोई विभाजन नहीं किया जा सकता। अर्थात रसानुभूति में विभाव, अनुभाव, संचारीभाव आदि की पृथक-पृथक अनुभूति नहीं होती, वरन् सभी की समन्वित अथवा एकान्वित अनुभूति होती है।

३. प्रकाशमय : रस स्वप्रकाशानन्द है। रस एकबार आस्वाद्यमान होकर स्वयं प्रकाशित होता रहता है, जिस प्रकार ब्रह्म स्वयं प्रकाशमान तत्व है।

४. चिन्मय : रस चिन्मय होता है। बोध करते समय रस चेतनामय रहता है। रसानुभूति आत्मचेतना के प्रकाश से प्रकाशित होता है।

५. वेद्यान्तरस्पर्शशून्य : रसानुभूति के समय पहले की अनुभूतियाँ, सभी प्रकार के ज्ञान विलीन हो जाते हैं और इतनी तन्मयता आ जाती है कि प्रमाता की आत्मसत्वा भी रसमय ही प्रतीत होती है।

६. ब्रह्मानन्द-सहोदर : रसानन्द ब्रह्मानन्द-सहोदर होता है। ब्रह्मानन्द में जिस प्रकार अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है, उसी प्रकार रसानुभूति भी अलौकिक आनन्द प्रदान करती है।

७. लोकोत्तर चमत्कार प्राणा : रस लोकोत्तर चमत्कार पूर्ण होता है। इसके स्वाद में जो आनन्द मिलता है, वह अलौकिक अथवा लोकोत्तर होता है। व्योंकि यह न प्रत्यक्ष अनुभव है और न परोक्ष अनुभव।

८. कैश्चित्प्रमातृभि : रस कैश्चित्प्रमातृभिः है, अर्थात, कोई सहृदय व्यक्ति ही रस की अनुभूति कर सकती है, जो सहृदय नहीं है, उनको रसानुभूति नहीं होती।

९. स्वकारद्भिन्नत्वे : रस अपने रूप से अभिन्न है। रसभोक्ता के रसबोध के समय अपने आकार में रस अभिन्न होता है।

१०. आस्वाद्यते : रस मूलतः आस्वाद्य रूप है, आस्वाद्य पदार्थ नहीं। आस्वाद्य रस एवं आस्वादक के बीच किसी प्रकार की पृथकता का भाव नहीं होता।

उपर्युक्त विवेचन से हम रस की परिभाषा इस प्रकार दे सकते हैं-

'सहृदय जनों के हृदय में स्थित स्थावी भाव ही विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों के संयोग से व्यक्त होकर रस कहलाता है। रस सत्व के उद्वेग के कारण अखण्ड, अद्वितीय, स्वयं प्रकाश-स्वरूप, आनन्दमय, चिन्मय एवं अलौकिक चमत्कारपूर्ण होता है। रस के आस्वाद के समय रसोपभोक्ता को सृष्टि के अन्य विषयों का स्पर्श तक नहीं होता और उसका रस से पृथक व्यक्तित्व भी नहीं रहता है।'

हिन्दी के आधुनिक काल के विद्वान आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'कविता क्या है?' निबंध में हृदय की मुक्तावस्था को ही रस दशा कहा है-

'जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है, उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है।' वे आगे कहते हैं-'लोक हृदय में लीन होने की दशा का नाम रस-दशा है।'

डा० नगेन्द्र का मत है कि-

'साहित्य का चरम मान रस ही है, जिसकी अखंडता में व्यष्टि और समष्टि, सौन्दर्य और उपयोगिता, शाश्वत और सापेक्षिक अंतर मिट जाता है।

आचार्य नंददुलारे बाजपेयी जी के अनुसार-

'काव्य तो प्रकृति मानव अनुभूतियों का, नैसर्गिक कल्पना के सहारे, ऐसा सौन्दर्यमय चित्रण है, जो मनुष्य मात्र में स्वभावतः अनुरूप भावोच्छवास् और सौन्दर्य-संवेदन उत्पन्न करता है। ऐसी सौन्दर्य-संवेदन को भारतीय पारिभाषिक शब्दावली में रस कहते हैं।'

रस के अंग या तत्व, सामग्री या अवयव :

रस काव्यानन्द का पर्याय है, अर्थात काव्यजनित आनन्द को रस कहते है। रस विभिन्न तत्वों या अंगों पर आधारित है; यथा-१. स्थायी भाव, २. विभाव, ३. अनुभाव और ४. संचारीभाव। इन्हें ही रस की सामग्री, अवयव कहा जाता है। यहाँ इन तत्वों या रस के अंगों पर संक्षिप्त विचार-विश्लेषण किया गया है-

१. **स्थायी भाव :** भाव और स्थायी भाव समानार्थी है। जो भाव चिरकालतक चित्त में स्थिर रहता है, जिन्हें कोई विरोधी या अ-विरोधी भाव दबा नहीं सकते उन्हें स्थायी भाव कहते हैं। आचार्य भरत मूनि ने कहा कि-

'वागङ्गः सत्त्वो पेतान भावयन्तीति भावाः'

आचार्य विश्वनाथ ने कहा है-

'अनिरूध्दा विरूध्दावायं तिरोधातुमक्षमाः।
आस्वादांकुर कंदोऽसौभावः स्थायिती सम्मतः॥'

यानी विरोध अथवा अ-विरोध भाव, जिसे छिपाया न जाय, आस्वाद का मूल रूप जो है वह स्थायी भाव है। स्थायी भाव ही मूलबोध या मुख्य भाव है। यह हर मनुष्य के अन्दर सहजात रूप में विद्यमान रहता है। इसीलिए इन्हें स्थायी भाव कहा जाता है। जैसे-श्रृंगार रस का स्थायी भाव 'रति' है, वीर रस का स्थायी भाव- 'उत्साह' है-इत्यादि। हर व्यक्ति में वासना के रूप में स्थित स्थायी भावों

का पल्लवन रसानुभूति में होता है। स्थायी भाव अन्य भावों को भी अपने में विलीन कर लेता है। इसकी संख्या ग्यारह तक मानी जाती हैं; जैसे-१. रति, २. हास, ३. शोक, ४. क्रोध, ५. उत्साह, ६. भय, ७. जुगुप्सा, ८. विस्मय, ९. निर्वेद, १०. वत्सलता और ११. भक्ति (ईश्वर विषयक प्रेम)।

२. **विभाव :** विभाव का अर्थ है कारण। जिसे देखकर स्थायी भाव उदित हो या जिसके सहारे वह भाव पनपे उसे ही विभाव कहते है। आचार्य विश्वनाथ ने विभाव का लक्षण इस प्रकार दिया है-

'रत्याद्युद्बोधकाः लोके विभावाः काव्यानाट्ययोः।'-अर्थात लोक या संसार में रत्यादि (रति-हास आदि) स्थायी भाव के जो उद्बोधक है, उसे विभाव कहते है। विभाव के दो भेद हैं-१. आलम्बन और २. उद्दीपन विभाव।

१. **आलम्बन विभाव :** आलम्बन का अर्थ है सहारा। जिसके सहारे रस-निष्पत्ति हो उसे आलम्बन विभाव कहते हैं। आलम्बन विभाव के भी दो भेद हैं, जैसे-१. आलम्बन और २. आश्रय।

जिसे ग्रहण करके रस उद्बुध्द होता है, उसे आलम्बन कहते है और जिसमें रस उत्पन्न होता है उसे आश्रय कहते है। उदाहरण के लिए-'रावण को देखकर राम के हृदय में क्रोध उत्पन्न होना'-में राम क्रोध का 'आश्रय' है और रावण 'आलम्बन' है। उल्लेखनीय है कि एक ही व्यक्ति कभी 'आलम्बन' और कभी 'आश्रय' भी हो सकता है।

२. **उद्दीपन विभाव :** 'उद्दीपन' का अर्थ है-तीव्र कर देना या उद्दीप्त कर देना। जिसके द्वारा भाव उद्दीप्त होता है उसे उद्दीपन कहते है। नायक-नायिका की वेश-भूषा, उनके पारस्परिक चेष्टाएँ और मुद्रायें तथा स्थान-काल से प्रेम में तीव्रता आती है। अतः आलम्बन द्वारा जागृत विभाव को उद्दीप्त करनेवाले कारण उद्दीपन विभाव कहे जाते है। इसके अन्तर्गत प्रायः आसपास का वातावरण और तद्गत् एवं आलम्बन आश्रयगत चेष्टाएँ आया करती है। इस तरह 'वातावरण इस विभाव रूप का मुख्य आधार या कारण है। उदाहरणतः नायिका द्वारा नायक को देखने के बाद की जानेवाली हाव-भाव पूर्ण चेष्टाएँ उसकी सौंदर्य और आसपास का रूपहला प्राकृतिक वातावरण उद्दीपन विभाव है।

३. **अनुभाव :** भाव के पीछे जो चले वही अनुभाव है। अनु+भाव अर्थात विभावों की जागृति के पश्चात् होनेवाली आश्रय आदि की चेष्टाएँ अनुभाव कही जाती है। आचार्य विश्वनाथ ने आलम्बन, उद्दीपन आदि कारणों से उत्पन्न भावों को बाहर प्रकाशित करनेवाले कार्य को अनुभाव कहा है-

'उद्बुध्दं कारणै: स्वै: स्वैबहिर्भावं प्रकाशयन्'

अत: किसी विशिष्ट भावदशा में मनुष्य की मानसिक बातचीत और शारीरिक दशा में कुछ परिवर्तन प्रकट होते हैं; उन्हीं परिवर्तित लक्षणों को अनुभाव कहते हैं। क्रोध में चेहरे का लाल पड़ना, आँखों का बड़ा हो जाना, चीत्कार करना, शरीर में कम्पन होना, स्वर-भंग हो जाना आदि लक्षण प्रकट होते हैं। इन सारे लक्षणों को क्रोध का अनुभाव कहेंगे। इस प्रकार कहा जाता है कि विभाव यदि कारण है तो अनुभाव कार्य। अनुभाव पाँच प्रकार के हैं-(क) कायिक, (ख) वाचिक, (ग) मानसिक, (घ) आहार्य और (ङ) सात्विक। इनमें से सात्विक अनुभाव के आठ भेद हैं; जैसे-स्तंभ, स्वेद (पसीना), रोमांस, स्वरभंग, वेपंथु (शरीर काँपना), वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलाप।

४. **व्यभिचारी या संचारी भाव :** जो भाव केवल थोड़ी देर के लिए स्थायी भाव को पुष्ट करने के निमित्त सहायक रूप से आते हैं और तुरंत लुप्त हो जाते हैं वे संचारी भाव हैं। अर्थात अनवरत संचरण करते रहनेवाले भाव संचारी भाव के नाम से अभिहित किए जाते हैं। ये तत्काल बनते-मिटते रहते हैं। इसी कारण इन्हें व्यभिचारी भाव भी कहा जाता है। ये भाव स्थायी रूप से मुख्य भावधारा में विचरण करते हैं। आते-जाते हुए ये भाव मुख्य भावधारा को न तो खंडित करते हैं और न बाधा डालते हैं। जैसे प्रेम में भय, आशंका, लज्जा, उत्सुकता, सन्देह, गतिविधि आदि विभिन्न प्रकार के भाव संक्रमित होते रहते हैं।

संचारी भावों की संख्या अनेक हो सकती हैं। फिर भी आचार्यों ने इसकी संख्या ३३ तक स्वीकार की हैं; जैसे-निर्वेद, आवेग, दैन्य, श्रम, मद, मोह, उग्रता, स्वप्न, जड़ता, विबोध, अपस्मार, गर्व, मरण, आलस्य, अमर्ष, निद्रा, अवहित्थ, उन्माद, शंका, स्मृति, मति, व्याधि, त्रास, व्रीड़ा (लज्जा), हर्ष, असूया (ईष्या) विषाद, धृति, चपलता, चिंता, ग्लानि, वितर्क और औत्सुक्य। इनके लिए एक स्मृति-सूत्र है-

'निर्वेद, आवेग, दैन्य, श्रम
मद, मोह, उग्रता, विबोध, स्वप्न जानिए।
जड़ता, उग्रता, गर्व, अपस्मार,
मरण, अमर्ष अरु आलस बखानिये।
निद्रा, अवहित्था, जौत्सुक्य, उन्माद, शंका,
स्मृति, मति, व्याधि, व्रीड़ा, हर्ष हूँ को भानिये।
असूया, विषाद, धृति, चिन्ता सह
चपलता, वितर्क, ग्लानि तैतिस संवारिये।'

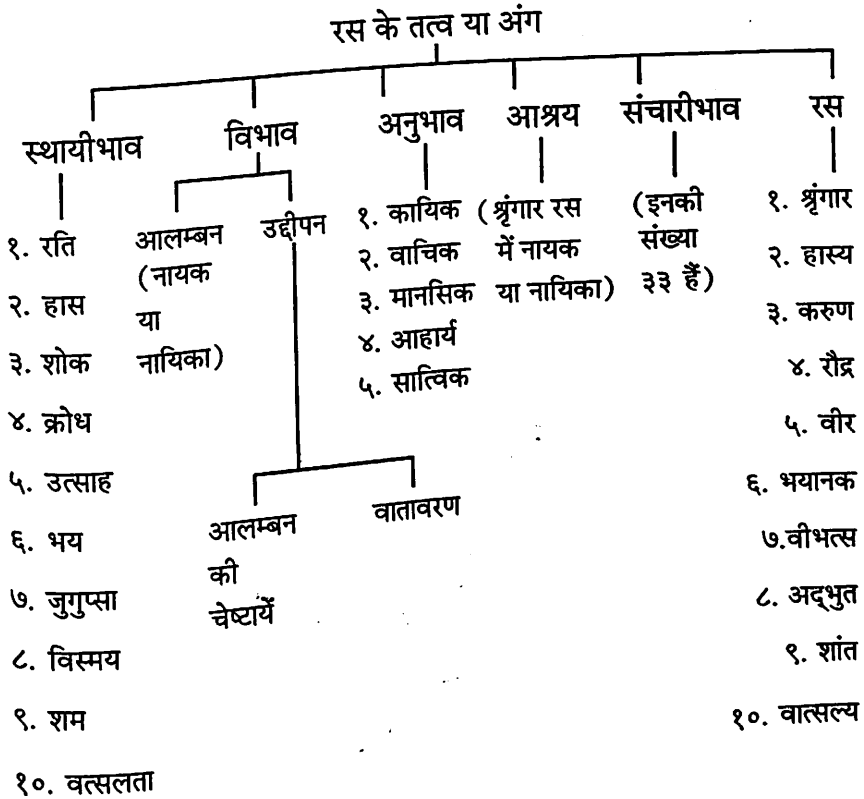

रस-निष्पत्ति :

भारतीय काव्यशास्त्र में 'रस' का महत्वपूर्ण स्थान है। साहित्य पढ़ते हुए हमें एक प्रकार की आनन्दानुभूति होती है; इसी आनन्दानुभूति को साहित्य शास्त्रीय

भाषा में रसानुभूति कहते है। 'जिस प्रक्रिया से काव्यगत रस की उपलब्धि दर्शक-पाठक को होती है उस प्रक्रिया को 'रस-निष्पत्ति' कहते है।'

रस-निष्पत्ति के सम्बंध में सर्वप्रथम आचार्य भरत ने अपना प्रसिध्द सूत्र इस प्रकार दिया है-**'विभावानुभावव्यभिचारी संयोगाद्रसनिष्पत्तिः'**-अर्थात विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस सूत्र से हमारे सामने दो प्रश्न खड़ा होते हैं-१. रस निष्पत्ति क्या है और २. रस कहाँ होता है?

रस कहाँ होता है?-इसके लिए तीन चीजें होती हैं-अनुकार्य, अनुकर्ता और प्रेक्षक। अब सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि रस की स्थिति अनुकार्य में, या अनुकर्ता में, या प्रेक्षक में, अथवा इन तीनों में हैं?

भरत सूत्र के अनुसार 'निष्पत्ति' का अर्थ है-उत्पत्ति, आविर्भाव, सिध्दि, परिपाक आदि। इसी तरह 'संयोगात' का शाब्दिक अर्थ है-मिश्रण, संगम, संचरण आदि। भरत के सूत्र से अब यह स्वाभाविक प्रश्न होता है कि किसके साथ संयोग या संचरण से रस-निष्पत्ति होती है और इस आस्वादन की प्रक्रिया कैसे होती है तथा रस कौन सा पदार्थ है? इसके उत्तर में आचार्य भरत ने लिखा है कि-

'यथाहि नाना व्यंजनौषधि द्रव्य संयोगाद्रस निष्पत्तिर्भवन्ति'

अर्थात जिस प्रकार से नाना प्रकार के व्यंजनादि द्रव्य से भोज्य पदार्थ उत्पन्न होता है, उसी तरह विभाव, अनुभाव और संचारी भाव स्थायीभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। अतः भरत के अनुसार स्थायी भाव ही रस है।

आचार्य भरत के परवर्ती विद्वानों द्वारा 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्द को लेकर अनेक मतवाद खड़े किए गए हैं, जिनमें निम्नलिखित मत प्रमुख हैं-

१. भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद अथवा आरोपवाद।
२. श्री शंकुक का अनुमितिवाद अथवा अनुमानवाद।
३. भट्टनायक का भुक्तिवाद अथवा भोगवाद।
४. अभिनव गुप्त का अभिव्यक्तिवाद।

१. भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद या आरोपवाद :

भट्ट लोल्लट भरत-सूत्र के प्रथम व्याख्याता माने जाते हैं। उन्होंने 'संयोग' का अर्थ कार्य कारण सम्बंध माना है और 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ उत्पत्ति या आरोप बताया है। अतः भट्ट लोल्लट के अनुसार रस सूत्र इस प्रकार है-

'विभावानुभावव्यभिचारीसम्बंधाद्रसउत्पत्ति'-अर्थात विभाव, अनुभाव और व्याभिचारी भावों के सम्बंध से रस की उत्पत्ति होती है। उनके अनुसार-

१. स्थायी भाव का संयोग होता है।
२. स्थायी भाव का आश्रय अनुकार्य में रहता है।
३. आलम्बन अनुकार्य के चित्त को उद्‌बुध्द करता है।
४. अनुभाव केवल स्थायी भावों का उपचित (मिश्रण) नहीं है, बल्कि अनुपचित स्थायी भावों के भी हैं।
५. व्यभिचारी भाव स्थायी भावों के सहयोगी होते हैं।
६. रस की उत्पत्ति मूलतः मूल नायक (राम, दुष्यन्त आदि) में होती है यानी वास्तविक रसानुभूति अनुकार्य में है, जिसे अनुकर्ता अपने कुशल अभिनय द्वारा अनुकरण करता है और प्रेक्षक उसी के माध्यम से उस पर आरोप करके रसानुभूति ग्रहण करते हैं।

भट्ट लोल्लट के मत की आलोचना :

१. भट्ट लोल्लट के उत्पत्तिवाद में यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि दर्शक का नाटकीय रस से क्या सम्बंध होता है।

२. कोई भी व्यक्ति हाव-भाव का अनुकरण तो कर सकता है; किन्तु रस अथवा स्थायी भाव का अनुकरण कैसे कर सकता है?

३. सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि केवल पौराणिक और ऐतिहासिक कथा पर ही नाटक नहीं लिखे जाते हैं, बल्कि कल्पित कथा के आधार पर भी नाटक लिखे जाते हैं। उत्पत्तिवाद में यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि कल्पित कथा के आधार पर लिखे गये नाटक में सामाजिक या प्रेक्षक कैसे रस ग्रहण करेंगे या कर सकते हैं।

४. एक ही कथा पर विभिन्न रसों की किताबें लिखी जाती है, ऐसी अवस्था में दर्शक किस रस पर आरोप करेगा-यह इसमें अस्पष्ट है।

५. यदि अनुकर्ता में रसानुभूति होती तो वेतन के अभाव में वे अभिनय क्यों नहीं करते हैं।

इन तत्थों के आधार पर यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि भट्ट लोल्लट के कथन में रस निष्पत्ति की यथार्थ या वास्तविक व्याख्या नहीं है। यह मत आचार्य

भरत के मत की काफी करीब रही है। अत: भट्ट लोल्लट के मत को स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। क्योंकि वे वास्तविक रस को मूल नायक में मानते हैं, जिसका अनुकरण अनुकर्ता बड़ी सहजता से करता है और सामाजिक उस पर आरोप करके रस का ग्रहण करता है। लेकिन प्रश्न यह है कि मूल चरित्र (अनुकार्य) की वेश-भूषा, क्रिया-कलाप का अनुकरण तो किया जा सकता है, पर मूल पात्र में स्थित आनन्द का अनुकरण कैसे हो सकता है, और अनुकर्ता पर मूल चरित्र का आरोप से ही वह आनन्द पाठक या दर्शक तक कैसे पहुँचता है? -यह लोल्लट के उत्पत्ति या आरोपवाद से स्पष्ट नहीं होता है। इस तरह भट्ट लोल्लट के मत आगे चलकर अमान्य हो गया।

2. श्रीशंकुक का अनुमितिवाद : भरत-सूत्र के प्रमुख व्याख्याताओं में भट्ट लोल्लट के बाद आचार्य शंकुक का नाम आता है। उन्होंने भरत-सूत्र की व्याख्या न्याय के आधार पर किया है। उन्होंने 'संयोग' का अर्थ अनुमान, 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ अनुमिति बताया है। उनके अनुसार विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भाव के अनुमान से रस की अनुमिति होती है-

'विभावानुभावव्यभिचारीअनुमानाद्रसअनुमिति'

आचार्य शंकुक ने खण्डनात्मक-मण्डनात्मक पध्दति द्वारा अपने मत की स्थापना की है-

१. श्री शंकुक ने अनुकार्य (मूल नायक) में ही रस की उत्पत्ति मानी है; किन्तु वह अनुकार्य कवि निबध्द पात्र है।

२. कुशल अभिनेता में दर्शक मूल नायक का अनुमान कर लेता है।

३. 'चित्र तुरंग न्याय' से मूल नायक का कविनिबध्द पात्र में अनुमान करता है।

४. यह अनुमान शास्त्र से भिन्न सरस होता है, यानी इसका सम्बंध काव्यनाटकादि से होता है।

५. दर्शक अनुकर्ता में कार्य का अनुमान कर रति आदि स्थायी भाव की भी अनुमिति से रसबोध करता है।

इस तरह देखा जाता है कि शंकुक ने भरत-सूत्र की व्याख्या दो दृष्टि से की हैं-

क) नट की दृष्टि से और

ख) सामाजिक दृष्टि से। अर्थात-

क) विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के अनुकारक अनुकार्य सम्बंध से रस की अनुकृति होती है :

'विभावानुभावव्यभिचारीअनुकारक रस अनुकृति'

ख) विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से गम्य-गम्यक अथवा अनुमाप्य-अनुमापक सम्बंध से रस की अनुमिति होती है :

'विभावानुभावव्यभिचारी अनुमापक अनुमाप्य सम्बंधाद्रस अनुमिति'

इसको संक्षेप में कह सकते है-' अनुमानात् अनुमिति'

अत: शंकुक के अनुमितिवाद का सार यह है कि-

'रस मुख्यतया मूल पात्रों में ही रहता है, पर विभावादि द्वारा सामाजिकों को नट में रस का अनुमान हो जाता हैं।'

इस मत की आलोचना :

अभिनवगुप्त ने इस मत की आलोचना करते हुए कहा है कि-

क) अनुकृति द्वारा रस अर्थ बहन करने में असमर्थ है।

ख) अनुमान रस की उपलब्धि नहीं हो सकती है।

ग) अनुमान में ज्ञातभेद से अंतर आ सकता है।

घ) शंकुक अभिनय तंत्व को मुख्य माना है और काव्यतत्व को गौण कर दिया है। यानी उन्होंने अभिनय को सर्वाधिक महत्व दिया है।

अत: इस सिध्दांत में, रस प्रक्रिया में अनुमान को महत्वपूर्ण कहा गया है। लेकिन अनुमान तो बुध्दि का विषय है-अनुभूति का नहीं।भावों का अनुमान ही कैसे किये जा सकते है? फिर प्रश्न यह भी है कि दूसरे के व्यक्तिगत भाव किस प्रकार हमारे लिए आनन्ददायी हो जाती है? अत: शंकुक का अनुमितिवाद भी रस-निष्पत्ति के संदर्भ में त्रुटिपूर्ण है।

3. भट्ट नायक का भुक्तिवाद : रस-निष्पत्ति के सम्बंध में तीसरा प्रमुख सिध्दांत भट्ट नायक का भुक्तिवाद है। उनके अनुसार-विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी या संचारी भावों के भोज्य-भोजक सम्बंध द्वारा रस की भुक्ति होती है। इसी कारण उनके सिध्दांत का नाम भुक्तिवाद है। भट्ट नायक ने 'संयोग' का अर्थ भोज्य-भोजकात या भावक-भाव्यात् और 'निष्पत्ति' शब्द का अर्थ भुक्ति या भाविति माना है। उनके अनुसार-

'विभावानुभावव्यभिचारी भोज्य-भोजकाद्रस भुक्ति' अथवा

'विभावानुभावव्यभिचारी भावक भाव्यात् रस भाविति'

भट्ट नायक ने अपने सूत्र के अनुसार 'भुक्ति' को समझाने के लिए तीन व्यापारों का उल्लेख किया है-१. अविधा व्यापार, २. भावकत्व व्यापार और ३. भोजकत्व व्यापार।

१. अविधा व्यापार : उनके अनुसार अविधा व्यापार द्वारा दर्शक या पाठक को शब्दार्थ का ज्ञान होता है।

२. भावकत्व व्यापार द्वारा दो प्रकार के कार्य होता है, एक-विभावादिका साधारणीकरण होता है और दूसरा-सामाजिक के चित्त राग-द्वेष से मुक्त हो जाता है और उसके चित्त का विस्तार होता है। साधारणीकरण भावकत्व व्यापार का प्रधान गुण होने के कारण स्थायी भाव भावित होकर रस रूप में परिणत हो जाता है-यही रस-निष्पत्ति है।

३. भोजकत्व व्यापार से सामाजिक काव्यार्थ के साधारणीकृत रूप का भोग करता है। सामाजिक के भोग का विषय है रस, जो उसके चित्त में पहले से ही विद्यमान रहता है।

अत: इस सिध्दांत की प्रमुख विशेषता साधारणीकरण और रस की स्थिति सहृदय सामाजिकों में मानना है।

इस मत की आलोचना : भट्ट नायक के अनुसार रस भोज्य होता है। यह मत आचार्य भरत, भट्ट लोल्लट, श्रीशंकुक की अपेक्षा अधिक व्यक्तिपरक है; किन्तु अभिनवगुप्त की अपेक्षा अधिक वस्तुपरक है। आचार्य भरत ने जहाँ लोकगत स्थायीभाव में रस को माना है, लोल्लट ने मूल चरित्र में और शंकुक ने कविनिबध्द पात्र के स्थायी भाव में रस को माना है; वहाँ भट्ट नायक ने सामाजिक के स्थायी भाव में रस को माना है।

इस मत की आलोचना करते हुए अभिनवगुप्त कहते है कि-भावकत्व और भोजकत्व व्यापार की कल्पना व्यर्थ है; क्योंकि इसका काम हम व्यंजना शक्ति से चला सकते हैं, जो पहले ही स्वीकृत है।

इस आलोचना के बावजूद भट्ट नायक द्वारा सुझाए भए पारिभाषिक शब्दों को बाद के आचार्यों ने स्वीकार की हैं। भट्ट नायक ही पहला आचार्य है जिन्होंने सामाजिक के महत्व को स्वीकार किया है। अत: कहा जा सकता है कि पूर्ववर्ती आचार्यों की तुलना में **भट्ट नायक का सिध्दांत सत्य के अधिक करीब है।**

4. अभिनवगुप्त का अभिव्यंजनावाद : रस-निष्पत्ति के सिध्दांत के क्षेत्र में आचार्य अभिनवगुप्त चौथे प्रसिध्द आचार्य हैं। उनके अनुसार 'संयोग' का

अर्थ है अभिव्यंजना और 'निष्पत्ति' का अर्थ है-अभिव्यक्ति। उनका सूत्र यह है-

'विभावानुभावव्यभिचारीअभिव्यंजनाद्रसअभिव्यक्ति'

अभिनवगुप्त के अनुसार सहृदय के अन्त:करण में स्थायी भाव वासना रूप में सदा विद्यमान रहते हैं। वे साधारणीकृत होकर विभावदि की अनुकूलता में अभिव्यक्त होते हुए आस्वाद्य या सुखमय प्रतीति के योग्य हो जाते हैं। वस्तुत: सुखमय प्रतीति (आनन्दानुभूति) ही रस है।

अभिनवगुप्त के मतानुसार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव व्यंजक है, स्थायी भाव व्यंग्य है। इन अभिव्यंजकों के द्वारा सहृदय के अन्त:करण में वासनारूप में विद्यमान स्थायीभाव ही अभिव्यक्त होता है, यही अभिव्यक्ति रस-निष्पत्ति है। उनका यह मत अथवा साधारणीकरण व्यक्ति के धरातल पर नहीं है, बल्कि सामूहिक धरातल पर है।

अभिव्यंजनावाद की विशोषताएँ :

क) अभिनवगुप्त का यह मत सर्वथा हृदयनिष्ठ है।

ख) साधारणीकरण का विस्तृत विवेचन भी इसमें है।

ग) समष्टिगत रस की परिकल्पना इस मत की एक प्रमुख विशेषता है।

घ) इसमें रस को ब्रह्मानन्द-सहोदर मानने की पुष्टि है।

ङ) रस की अबतक जो वस्तुपरक व्याख्या हो रही थी, उसका खण्डन कर पूर्णत: आत्मपरक व्याख्या की है।

च) इसमें भरत-सूत्र की सर्वथा नयी व्याख्या है, जिसके कारण कुछ लोग यह आरोप लगाते हैं कि अभिनवगुप्त ने भरत के सूत्र को अपने रंग में रंग दिया।

छ) यह व्याख्या (अभिव्यंजनावाद) पूर्णत: मनोवैज्ञानिक है।

अत: आचार्य अभिनवगुप्त के मत की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उन्होंने निर्भ्रान्त रूप से सामाजिकों के हृदय में रस की स्थिति स्वीकार की है। इस मत के अनुसार रस उत्पन्न नहीं होता, निष्पन्न होता है। जो वस्तु वासना रूप में पहले ही थी, वह उत्पन्न न होकर निष्पन्न ही हो सकती है।

निष्कर्ष : उपर्युक्त विवेचन को ध्यान में रखते हुए निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भट्ट नायक और अभिनवगुप्त की विचारधारा में सत्य निहित है, और इनमें से अभिनवगुप्त का सिध्दांत ही सर्वश्रेष्ठ है। यह मत ही तद्विषयक मतों में सर्वाधिक निर्दोष है।

■■■

षष्ठ अध्याय

नव-रस विवेचन

भूमिका : भारतीय काव्यशास्त्र में 'रस' का महत्वपूर्ण स्थान है। रसों की संख्या का निरूपण सबसे पहले आचार्य भरत मुनि के 'नाट्यशास्त्र' में हुआ। भरत मुनि के अनुसार रसों की संख्या आठ हैं; जैसे - १. श्रृंगार, २. हास्य, ३. करुण, ४. रौद्र, ५. वीर, ६. भयानक, ७. वीभत्स और ८. अद्‌भुत रस। आचार्य जगन्नाथ ने भरतमुनि के रसों को स्वीकारते हुए इन रसों के साथ 'शांतरस' को भी जोड़ दिया। आचार्य मम्मट ने इन्हीं नौ रसों को मान्यता दी है। आगे चलकर आचार्य विश्वनाथ ने 'वात्सल्य' नामक और एक रस को स्वीकार किया। आचार्य रूप गोस्वामी ने 'मधुर रस' या 'भक्तिरस' को जोड़कर रसों की संख्या ग्यारह तक पहुँचा दिया; परन्तु मान्यता सिर्फ नव-रस की ही है। मुख्य रूप से रस ९ही माते जाते हैं।

१. **श्रृंगार रस :** 'सहृदय जनों के हृदय में रसावस्था को प्राप्त रति-भाव ही श्रृंगार रस है।' 'श्रृंगार' शब्द 'श्रृंग' और 'आर' दो शब्दों से मिलकर बना है। 'श्रृंग' का अर्थ 'कामोद्रेक' और 'आर' का अर्थ है प्राप्ति या गमन। अत: 'श्रृंगार' का अर्थ काम की वृध्दि है। श्रृंगार रस को सर्वोपरि माना गया है। यही एकमात्र रस है जिसमें ३३ संचारी भाव आ जाते हैं। स्थायीभाव, आलम्बन, आश्रय, उद्दीपन, अनुभाव, संचारीभाव, गुण, वृत्ति और नीति श्रृंगार रस के अंग हैं।

श्रृंगार रस के दो भेद हैं- १. संयोग या संभोग श्रृंगार और २. वियोग या विप्रलंभ श्रृंगार।

संयोग श्रृंगार : 'नायक-नायिका के परस्पर अवलोकन, मिलन, आलिंगन तथा रति-क्रीड़ाओं को संयोग श्रृंगार कहते है।' संयोग-श्रृंगार के लिए नायक एवं नायिका दोनों का परस्पर भाव से अनुरक्त होना अनिवार्य है। एक उदाहरण-

'दूलह श्री रघुनाथ वने, दुलही सिय सुन्दर मन्दिर माहीं।
गावति गीत सबै मिलि सुन्दर, वेद जुवा जुरि विप्र पढ़ हीं॥

राम के रूप निहारित जानकी, कंकन के नग की परछाहीं।
यातै सबै सुधि भूल गई, कर टेकि रही पल, टारति नाहीं॥ -तुलसीदास

इसमें स्थायी भाव रति है। सीताजी आश्रय एवं राम आलम्बन के रूप में हैं। कंकन के नग में रामचन्द्र जी की परछाई का देखना उद्दीपन है। हाथ इधर-उधर न हिलना, प्रतिबिम्ब को टकटकी लगाकर देखना अनुभाव की क्रियाएँ हैं। हर्ष, सुधि, भूल जाना आदि संचारी भावों के संयोग से रति स्थायी भाव के प्रकाशित होने से संयोग श्रृंगार रस की निष्पत्ति हुई है।

वियोग या विप्रलम्भ श्रृंगार :

'प्रिय की वियोगावस्था में प्रेमी या प्रेमिका के हृदय की विह्वलताजनित स्थिति को वियोग या विप्रलम्भ श्रृंगार कहते है।' वियोग श्रृंगार में नायक और नायिका के मिलन का अभाव होता है। वियोग के निम्न लिखित एकादश अवस्थाएँ होती हैं-

१. स्मृति, २. अभिलाषा, ३. उद्वेग, ४. चिन्ता, ५. प्रलाप, ६. गुण कथन, ७. उन्माद, ८. जड़ता, ९. व्याधि, १०. मूर्च्छा, ११. मरण।

एक उदाहरण-

'रे मन आज परीक्षा तेरी!
सब अपना सौभाग्य मनावें।
दरस परस नि:श्रेयस पावें।
उध्दारक चाहें तो आयें।
यहीं रहे यह चेरी। - मैथिलीशरण गुप्त

इसमें स्थायी भाव 'रति' है। 'यशोदरा' आलम्बन है। उध्दारक गौतम के प्रति यह भाव कि 'वे चाहे तो आवे' उद्दीपन विभाव है। मन को समझाना और उद्‌बोधन अनुभाव है। 'यशोधरा का प्रणय' मान है तथा मति, वितर्क और अमर्ष संचारी भाव है। अत: प्रस्तुत उदाहरण में विप्रलम्भ श्रृंगार है।

२. **हास्य रस :**

'विकृत वेश-भूषा, क्रिया-कलाप, चेष्टा या वाणी को सुनकर हृदय में विनोदजन्य उल्लास हास्य रस कहलाता है।'

हास्य 'आत्मस्य' और 'परस्य' होता है। हास्य के विषय को देखने से

उत्पन्न हास्य 'आत्मस्य' और दूसरे को हँसता देखकर उत्पन्न हास्य 'परस्य' कहलाता है। हास्य का मुख्य आधार रूप, आकार एवं वेश-भूषा की विकृति है।

उपकरण-

१. स्थायी भाव-हास।

२. आश्रय-पाठक, दर्शक अथवा हँसनेवाला व्यक्ति।

३. आलम्बन-विकृत वेशभूषा, आकार एवं चेष्टाएँ।

४. उद्दीपन-आश्रय की चेष्टायें, हास्य जनक बात-चीत।

५. अनुभाव-आश्रय की मुस्कान, नेत्रों का मिचकाना, मुस्कराना आदि

६. संचारीभाव-आलस्य, निद्रा, चपलता, कम्पन, उत्सुकता आदि।

एक उदाहरण-

'काहुं न लख सो चरित बिसेषा। सो सरूप नृप कन्यां देखा॥
मर्कट बदन भयंकर देहि। देखत हृदयं क्रोध भा तेही॥
जेही दिसि बैठै नारद फूली। सो दिसि तेहि न बिलोकी भूली॥
पुनि पुनि मुनि उकसहि अकुलाही। देखि दसा हर गन मुसकाहीं॥ -तुलसीदास

यहाँ नारद जी आलम्बन विभाव है, उनका बार-बार ऊपर उकसाना और अकुलाना उद्दीपन विभाव है। हर गणों का मुस्काना अनुभाव और हर्ष, उद्वेग, चपलता आदि संचारी भाव हैं।

३. **करुण रस :** बन्धु-विनाश या वियोग, द्रव्यनाश और प्रेमी के सदैव के लिए विछुड़ जाने से करुण रस उत्पन्न होता है। यद्यपि दु:ख का अनुभव वियोग श्रृंगार में भी होता है, तथापि वहाँ मिलने की आशा रहती है। अत: जहाँ पर मिलने की आशा पूरी तरह समाप्त हो जाती है, वहाँ 'करुण रस' होता है।

करुण रस के उपकरण -

१. स्थायी भाव - शोक।

२. आलम्बन विभाव - विनष्ट व्यक्ति अथवा वस्तु।

३. उदीपन विभाव - मृतक शरीर या विनष्ट वस्तु को देख लेना, उसकी बातों का स्मरण करना, उसका फोटो देख लेना आदि।

४. अनुभाव - भूमि पर गिरना, नि:श्वास, छाती पीटना, प्रलाप, मूर्च्छा, स्तम्भित हो जाना, दैव-निन्दा करना, कम्प, मुख-सुखना आदि।

५. संचारी भाव - निर्वेद, ग्लानि, चिन्ता, दैन्य, जड़ता, विषाद, भ्रम आदि।

उदाहरण-

'अभी तो मुकुट बँधा था माथ,
हुए कल ही हल्दी के हाथ,
खुले भी न थे लाज के बोल,
खिले थे चुम्बन शून्य कपोल,
हाय रुक गया यहीं संसार,
बना सिंदूर अनल अंगार,
वातहत लतिका वह सुकुमार,
पड़ी है छिन्नाधार।' -सुमित्रानन्दन पंत

इन पंक्तियों में 'विनष्ट पति' आलम्बन तथा 'मुकुट का बँधना, हल्दी के हाथ होना, लाज के बोलों का न खुलना' आदि उद्दीपन है। 'वायु से आहत लतिका के समान नायिका का बेसहारे पड़े होना' अनुभाव है तथा उसमें विषाद, दैन्य, स्मृति, जड़ता आदि संचारी भाव हैं। इस प्रकार विभाव आदि के द्वारा पुष्ट होकर 'शोक' स्थायी भाव की करुण रस में व्यंजना हुई है।

४. रौद्र रस :

'शत्रु की चेष्टाओं, ललकार, अपमान, गुरुजनों की निन्दा आदि के फलस्वरूप जाग्रत क्रोध ही रौद्र रस है।' रौद्र रस के उपकरण इस प्रकार है-

१. स्थायी भाव - क्रोध

२. आलम्बन विभाव - विपक्षी, शोषक, शत्रु-पक्षवाले

३. उद्दीपन विभाव - शत्रु की चुनौती, विपक्ष के कार्य तथा उक्तियाँ।

४. आश्रय - विपक्षी, रक्षक, अन्याय-विरोधी।

५. अनुभाव - मुख और आँखें लाल होना, प्रहार करना, दाँत पीसना, आवेश में हाथ मलना, काँपना, शस्त्र उठाना आदि।

६. संचारी भाव - आवेग, उग्रता, अमर्ष, स्मृति, ईर्ष्या, मद, मोह आदि।

उदाहरण -

'उस काल मारे क्रोध के तन काँपने उनका लगा।
मानो हवा के जोर से सोता हुआ सागर जगा॥'

यहाँ अभिमन्यु के वध का समाचार सुनकर अर्जुन के क्रोध का वर्णन किया गया है। इसमें स्थायी भाव-क्रोध, आश्रय-अर्जुन, विभाव-अभिमन्यु का वध; तथा अनुभाव- हाथ मलना, मुख लाल होना एवं तन काँपना; संचारी भाव 'उग्रता' आदि है।

५. वीर रस :

'शत्रु की ललकार पर आनन्द-भावना से युक्त होकर कर्म-क्षेत्र में प्रवृत्त होने का नाम वीर रस है।' वीर रस का स्थायी भाव उत्साह-विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के सहयोग से वीर रस में परिणत हो जाता है। वीर रस के मुख्यतः ३ भेद हैं-युध्दवीर, दानवीर और दयावीर। इन तीनों में युध्दवीर को ही विद्वान अधिक मान्यता देते हैं। उपकरण-

१. स्थायीभाव-उत्साह।

२. आश्रय - वह व्यक्ति जिसके हृदय में किसी भी प्रकार का उत्साह उत्पन्न होता है।

३. आलम्बन - शत्रु समूह, गरीबजन, भिक्षुक, साधु आदि।

४. उद्दीपन - युध्द की विभिन्न क्रियायें, युध्द के दृश्य, कराहना, आर्तनाद आदि।

५. अनुभाव - रोमांस, गर्वपूर्ण उक्ति, प्रहार करना, धर्मानुकूल आचरण आदि।

६. संचारी भाव - उग्रता, आवेग, गर्व, चपलता, मति, स्मृति, हर्ष आदि।

उदाहरण-

कुध्द दशानन बीस भुजानि, सो लै कपि रीछ अनी सर बट्टत।
लच्छन तच्छन रक्त किए दृग लच्छ विपच्छन के सिर कट्टत॥
मार पछारु पुकारे दुहूँ दल, रुण्ड झपटी दपट्टि लपट्टत।
रुण्ड लरै भट मत्थनि लुट्टत जोगिनि खप्पर ठट्टनि ठट्टत॥'

यहाँ पर लंका के युध्द में रीछ-वानरों की सेना को देखकर रावण के युध्द का वर्णन है। 'रावण के हृदय में उत्साह' स्थायी भाव है। 'रीछ' तथा वानर आलम्बन है। 'वानरों की विभिन्न लीलाएँ, उद्दीपन है। 'नेत्रों का लाल होना' शत्रुओं के सिर को काटना आदि अनुभाव है। उग्रता, अमर्ष आदि संचारी भाव है।

६. भयानक रस :

किसी बलवान शत्रु या भयानक वस्तु के प्रत्यक्षीकरण पर भयानक रस का निष्पत्ति होती है। इसके उपकरण निम्नलिखित रूप में है-

१. स्थायीभाव-भय।

२. आलम्बन - भयानक वस्तु अथवा व्यक्ति।

३. उद्दीपन - भयानक वस्तु का स्वर, सायं-सायं करती हुई अंधेरी रात, भयंकर भूकम्प, निर्जन स्थान आदि।

४. अनुभाव - स्वेद, रोमांस, त्रास, मूर्च्छा, पलायन इत्यादि।

५. संचारी भाव -आवेग, शंका, दैन्य, चिन्ता, मरण आदि।

भयानक रस का उदाहरण :

'एक ओर अजगरहिं लखि, एक ओर मृग राय।
बिकल बटोही बीच ही, पर्‌यो मूर्च्छा खाय॥'

यहाँ 'मार्ग में जानेवाला बटोही का भय' स्थायी भाव है। 'अजगर एवं सिंह' आलम्बन हैं। अजगर और सिंह का दोनों ओर घेरना उद्दीपन है। 'पथिक का विकल या मूर्च्छित हो जाना अनुभाव है। 'त्रास, दैन्य, भय, अपस्मार' आदि संचारी भाव है। इस प्रकार प्रस्तुत दोहें में भयानक रस की पूर्ण सामग्री विद्यमान है।

७. वीभत्स रस :

घृणित वस्तु को देखने से उत्पन्न ग्लानि से वीभत्स रस की निष्पत्ति होती है। वीभत्स रस के लिए घृणा और जुगुप्सा आवश्यक हैं। वीभत्स रस के उपकरण इस प्रकार है-

१. स्थायीभाव-जुगुप्सा (घृणा) या आश्चर्य।

२. आलम्बन - घृणास्पद मनुष्य अथवा वस्तुएँ, मराहुआ मनुष्य, गन्दी वस्तुएँ आदि।

३. उद्दीपन - वस्तु अथवा व्यक्ति के शरीर से उठनेवाली दुर्गन्ध, घृणास्पद वस्तु की स्मृति, घृणित चेष्टाएँ।

४. अनुभाव - थू-थू करके भागना, नाक बन्द कर लेना, आँखें मिचना।

५. संचारी भाव -मोह, आवेग, मूर्च्छा, व्याधि, उन्माद, जड़ता, चिन्ता।

उदाहरण –

सिर पर बैठो काग, आँखिदोउ खात निकारत।
खींचत जीभहिं स्यार अतिहि आनन्द उर धारत॥
गिध्द जाँघ कह खोदि-खोदि के माँस उचारत।
स्वान आँगुरिन काटि-काटि के खान बिचारत॥
वहु चील्ह नोचि ले जात तुच, मोद मढ्यो सबको हियो।
जनु ब्रह्म-भोज जिजमान कोऊ, आज भिखारिन कहुँ दियो॥

यह श्मशान का दृश्य है। पशु-पक्षियों की क्रीड़ाओ को देखकर चाण्डाल सेवारत राजा हरिश्चन्द्र के मन में जो 'घृणा' पैदा हो रही है, वही स्थायी भाव है। 'शवों की हड्डी, त्वचा आदि आलम्बन है। 'कौओं का आँख निकालना, सियार का जीभ को खींचना, गिध्द का जाँघ खोद-खोदकर माँस नोचना' आदि उद्दीपन है। 'राजा हरिश्चन्द्र द्वारा इनका वर्णन' अनुभाव है। 'मोह, स्मृति' आदि संचारी भाव हैं। इस तरह यहाँ वीभत्स रसकी निष्पत्ति हुई है।

८. अद्‌भुत रस :

'किसी आश्चर्यजनक वस्तु के देखने से स्थायीभाव-विस्मय, विभाव अनुभाव और संचारी भाव के सहयोग से अद्‌भुत रस में परिणत हो जाता है।' अद्‌भुत रस के उपकरण इस प्रकार है-

१. स्थायीभाव-विस्मय।

२. आलम्बन - आश्चर्य में डाल देनेवाले दृश्य, वस्तु, या व्यक्ति आदि।

३. उद्दीपन - आश्चर्य चकित चेष्टाएँ, गुण, रूप-परिवर्तन आदि।

४. अनुभाव - चकित होना, पसीना आ जाना, दाँतों तले अंगुली दबाना, आँखें फारकर देखना, स्वर-भंग होना आदि।

५. संचारी भाव -हर्ष, आवेग, उत्सुकता, स्वेद, स्तम्भ, मोह आदि।

उदाहरण –

'लीन्हों उखारि पहार विसाल, चल्यौ तेहि काल, बिलम्ब न लायौ।
मारुत नन्दन मारुत को, मन को, खगराज को वेग लजायौ।
तीखी तुरा तुलसी कहती पै हिए उपमा को समाउ न आयौ।
मानो प्रतच्छ परब्बत की नभ लीक लसी कपि यों धुकि धायौ।

इस उदाहरण में पर्वत के साथ गमन करते हुए हनुमानजी आलम्बन है। आकाश मार्ग से अपूर्व गति के साथ गमन करना जिसका वेग गरुड़ पवन और मन के वेग से भी अधिक है-उद्दीपन है, गद्‌गद् हो जाना और चकित होकर देखना अनुभाव है और वितर्क आदि संचारी भाव है। इस तरह स्थायी भाव-विस्मय परिपुष्ट होकर अद्‌भुत रस की व्यंजना किया।

९. शांत रस :

तत्व-ज्ञान की प्राप्ति अथवा संसार से वैराग्य होने पर शान्त रस की उत्पत्ति होती है। जहाँ दु:ख है न सुख, न द्वेष है न राग और न कोई इच्छा है, ऐसी मन:स्थिति में उत्पन्न रस को 'शान्त रस' कहा जाता है।

उपकरण

१. स्थायीभाव-'शम' या निर्वेद।

२. आलम्बन - परमात्मा के प्रति भक्ति भावना, संसार की क्षणभंगुरता, शास्त्रों का ज्ञान, शरीर की नश्वरता आदि।

३. उद्दीपन - सत्संग, नश्वर संसार, मृत्यु की अनुभूति आदि।

४. अनुभाव - पुरे शरीर में रोमांच, पश्चाताप करना, अश्रुपात आदि।

५. संचारी भाव -स्मृति, हर्ष, उद्वेग, निर्वेद, जड़ता, ग्लानि आदि।

उदाहरण –

'कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्री रघुनाथ-कृपालु-कृपा तें सन्त सुभाव गहौंगो॥
जथालाभ संतोष सदा काहु सों कछु न चहौंगो।
परहित-निरत-निरन्तर मन क्रम बचन नेम निबहौंगो॥' -तुलसीदास

इस पद में तुलसीदासजी ने श्रीरघुनाथ की कृपा से सन्त-स्वभाव ग्रहण करने की कामना की है। संसार से पूर्ण विरक्ति और निर्वेद स्थायी भाव है। राम की भक्ति आलम्बन है। साधु-सम्पर्क एवं श्रीरघुनाथ की कृपा उद्दीपन है। धैर्य, सन्तोष तथा अचिन्ता अनुभाव है। निर्वेद, हर्ष, स्मृति संचारी भाव है। इस तरह यहाँ शांत रस का पूर्ण परिपाक हुआ है।

१०. वात्सल्य रस :

पुत्र, बालक, शिष्य, अनुज आदि के प्रति रति का भाव स्नेह कहलाता है।

यही भाव परिपुष्टि होकर 'वात्सल्य रस' की व्यंजना करता है।

उपकरण-

१. स्थायीभाव-बालकों के प्रति प्रेम (स्नेह)।

२. आलम्बन - संतान, शिशु, शिष्य।

३. उद्दीपन - बालकों का हँसना, खेलना, तुतलाना, हठ करना आदि।

४. अनुभाव - मुख चूमना, पुलकित होना, प्यार से गले लगा लेना, सिर पर हाथ फेरना, थपथपाना आदि।

५. संचारी भाव -हर्ष, विषाद, चिन्ता, मोह, स्नेह, जड़ता आदि।

उदाहरण -

'तन की दुति स्याम सरोरुह लोचन कँज की मंजुलताई हरैं।
अति सुन्दर सोहत धूरि भरे छवि भूरि अनंग की धूरि धरैं॥
दमकैं दतिया दुति दामिनी ज्यौं किलकैं कल बाल-बिनोद करैं।
अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी मन-मंन्दिर में बिहरैं॥ -तुलसी दास

प्रस्तुत उदाहरण में 'स्नेह' स्थायी भाव है। 'राम और उनके भाई' आलम्बन है। 'उसके धूल-धूसरित शरीर, बाल-क्रीड़ाएँ, छोटे-छोटे दातों का चमकना' आदि उद्दीपन हैं। 'उनके बाल-बिनोद से माता-पिता का आनन्दित होना अनुभाव है। 'हर्ष और गर्व' संचारी भाव हैं। इस प्रकार यहाँ वात्सल्य रस की पूर्ण निष्पत्ति हुई है।

श्रृंगार रस रसराज क्यों :

सहृदय जनों के हृदय में रसावस्था को प्राप्त रति-भाव ही श्रृंगार रस हैं। 'श्रृंगार' शब्द 'श्रृंग' और 'आर' दो शब्दों से बना है। 'श्रृंग' का अर्थ 'कामोद्रेक' और 'आर' (ऋ धातु से बना है) का अर्थ 'गमन' है। अर्थात श्रृंगार का अर्थ काम की बृध्दि है। श्रृंगार रस को सर्वोपरि माना जाता है। अग्निपुरान के अनुसार अन्य सभी रस श्रृंगार रस से ही प्रादुर्भूत होते हैं। श्रृंगार ही एक ऐसी रस है जिसमें ३३ संचारी भाव आ जाते हैं। अतः श्रृंगार रस को रसराज की उपाधि से विभूषित किया गया है। क्यों कि-

१. श्रृंगार का आधार 'काम' या 'रति' है। यह पशु-पक्षी तक में समान रूप से पाया जाता है। अतः इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है।

२. 'काम' सभी देशों में और सभी अवस्था के स्त्री-पुरुषों में विद्यमान है।

३. इसके संयोग और वियोग दो पक्ष होते हैं, जबकि अन्य रसों में नहीं।

४. श्रृंगार में कोमलतम भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है।

५. किसी भी साधना की परिणति श्रृंगार में होती है।

६. व्यापकता और अनुभूति की गहराई की दृष्टि से अन्य रस उसकी समता नहीं कर सकते है।

उपर्युक्त विवेचन से हम कह सकते हैं कि श्रृंगार रस ही रसराज है।

■■■

सप्तम अध्याय

शब्दशक्ति

भूमिका : जिस शक्ति, व्यापार अथवा वृत्ति के द्वारा शब्द में अन्तर्निहित अर्थ को स्पष्ट करने अथवा ग्रहण करने में सहायता मिलती है, उस माध्यम को शब्दशक्ति कहते है। अर्थात शब्द के अर्थबोधक व्यापार को शब्दशक्ति कहते है। लोक में व्यवहृत प्रत्येक शब्द का कुछ न कुछ अर्थ होता है। अभिप्रेत अर्थ शब्द के जिस व्यापार द्वारा सांकेतित, लक्षित और व्यंजित होता है-उसे ही शब्दशक्ति कहते है।

लोक में व्यवहृत प्रत्येक शब्द का कुछ न कुछ अर्थ होता है। शब्दों से अर्थों की प्रतीति तीन प्रकार के व्यापारों द्वारा होती हैं। इसीलिए शब्दों की तीन शक्तियाँ स्वीकार की जाती हैं। जैसे-

१.-अभिधा शब्द शक्ति।

२. लक्षणा शब्दशक्ति और

३. व्यंजना शब्दशक्ति

१. **अभिधा शब्द शक्ति :** जिस शक्ति से मुख्य अर्थ का प्रत्यक्ष बोध होता है, उसे अभिधा शब्दशक्ति कहते है-

'तत्र संकेतितार्थस्य बोधना दिग्रामाविधा'

अर्थात, मुख्य या सांकेतिक बाच्यार्थ को बोध करानेवाली शब्द-शक्ति को अभिधा शब्दशक्ति कहते हैं।

शब्द की इस शक्ति के द्वारा शब्द से सीधा-सादा निश्चित अर्थ ग्रहण किया जाता है। उदाहरण के लिए 'गधा' केवल हमारे सामने एक विशिष्ट पशु का अर्थ द्योतन करता है। यहाँ शब्द की मुख्य शक्ति द्वारा एक निश्चित पशु (गधा का) का अर्थ ग्रहण किया जाता है। यह अभिधा अर्थ व्यापार का परिणाम है। अब प्रश्न यह उठता है कि शब्दों से जब हम निश्चित अर्थ ग्रहण करते ही हैं, तो फिर उनके लिए तीन भेद बनाने की क्या आवश्यकता है?-इसके उत्तर में कहा जा

सकता है कि शब्दों की गति समान नहीं होती है। गंगा की धारा की तरह शब्दों की गतिबिधि कहीं सरल, कहीं बक्र और कहीं गम्भीर होती है। अत: शब्दों की उपर्युक्त तीन भेद समूचित हैं। अभिधा शक्ति द्वारा 'रूढ़ि' 'योगिक' और 'योगरूढ़' शब्दों का अर्थ बोध होता है।

२. **लक्षणा शब्दशक्ति :**

जब हमारा काम साक्षात सांकेतिक अर्थ के द्वारा नहीं चलता है तब हम प्रयोजन अथवा रूढ़ि के आधार पर शब्दों से जो भिन्न अर्थ ग्रहण करते हैं-वही लक्ष्यार्थ है और इससे भिन्नार्थ बोधक अर्थ व्यापारों को लक्षणा शब्दशक्ति कहते है।

काव्यशास्त्र में लक्षणा शब्द शक्ति की परिभाषा इस प्रकार दी गई हैं-

'मुख्यार्थ बाधे तदयुक्तों रूढ़ितोउथ प्रयोजनात।

अन्यार्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारूपिता क्रिया॥'

अर्थात जहाँ शब्द का मुख्यार्थ, संकेतार्थ, वाच्यार्थ से भिन्न अर्थ ग्रहण किया जाय, उसे लक्ष्यार्थ कहते हैं। इस अर्थ को प्रकट करनेवाली शक्ति लक्षणा शब्दशक्ति होती है। व्याच्यार्थ की तरह लक्ष्यार्थ तुरन्त प्रतीत नहीं होता है। मुख्यार्थ से बाधा होने पर ही दूसरा अर्थ निकलता है। जैसे कहा जाय कि-'नरेश भीम है'। इससे 'भीम' का अर्थ पांडव लेना असंगत है। यहाँ तो 'भीम' का अर्थ शक्ति से है। अर्थात नरेश भी बहुत शक्तिशाली है। यहाँ लक्ष्यार्थ की प्रतीति से प्रयोजन सहायक हुआ है। लाक्ष्यणिक प्रयोग से भाषा में प्रभाव तथा चमत्कार उत्पन्न होता है। इसीलिए कवि इसका बहुलता से प्रयोग करते हैं और मुहावरों में भी प्राय: इसीका अर्थ प्रयोग होता है। लक्षणा शब्दशक्ति की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि-

"As to the meteforical expression that is a great extalence in style."

अत: लक्ष्यार्थ शक्ति के लिए तीन अर्थों की आवश्यकता होती हैं। जैसे-

१. मुख्यार्थ की बाधा होनी चाहिए।

२. मुख्यार्थ से सम्बंधित दूसरा अर्थ का प्रतीति और

३. दूसरा अर्थ रूढ़ि अथवा प्रयोजन पर आधारित होना चाहिए। रूढ़ि और

प्रयोजन को आधार मानकर लक्षणा के दो भेद किये गये। जैसे-

१. रूढ़ा लक्षणा और

२. प्रयोजनवती लक्षणा।

१. रूढ़ा लक्षणा : जहाँ रूढ़ि के आधार पर शब्द के मुख्यार्थ को छोड़कर उससे भिन्न, किन्तु उससे मिलता हुआ लक्ष्यार्थ ग्रहण किया जाता है, वहाँ रूढ़ा लक्षणा होती है। उदाहरण के लिए 'सिरोही' राजस्थान का एक शहर तलवार बनाने के लिए प्रसिध्द था। फिर 'सिरोही' शब्द तलवार के लिए ही रूढ़ बन गया। रूढ़ा के भी दो मुख्य भेद हैं, यथा-(क) गौणी रूढ़ा और (ख) शुध्द रूढ़ा।

२. प्रयोजनवती लक्षणा : किसी विशेष प्रयोजन से शब्द का लाक्षणिक अर्थ लेने पर 'प्रयोजनवती लक्षणा शब्दशक्ति' होती है। जैसे-'उसका घर तो गंगा में है।' इसका मुख्यार्थ ग्रहण नहीं किया जा सकता; क्योंकि गंगा में किसी का घर नहीं हो सकता। इसका लक्ष्यार्थ यही है कि जहाँ इसका घर है, गंगा वहाँ बाढ़ का पानी लाती रहती है। प्रयोजनवती लक्षणा के अनेक भेद हैं; जैसे- गौणी लक्षणा, शुध्द लक्षणा, उपादान लक्षणा, लक्षण लक्षणा, सारोपा लक्षणा, साध्यवासना लक्षणा आदि।

३. व्यंजना शब्द शक्ति :

अभिधा और लक्षणा के शांत होने पर जिस शब्द-शक्ति से व्यंग्यार्थ की प्राप्ति होती है उसे व्यंजना शब्दशक्ति कहते हैं। व्यंजना शब्द 'वि' उपसर्ग और 'अञ्जू' धातु से बना है, जिसका अर्थ है-देखना, प्रकट करना, व्यक्त करना, खोलना। व्यंजना द्वारा दूर के अर्थ को भी जान सकते है। 'व्यंजन' का अर्थ है- विशेष प्रकार का अंजन होना। आँख में लगा हुआ अंजन जिस प्रकार दृष्टिकोण दूर कर उसे निर्मल बनाता है, उसी प्रकार व्यंजना शब्दशक्ति द्वारा मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ को पीछे छोड़ती हुई उसके मूल में छिपे हुए अकथित अर्थ को प्रकाशित करते है। अर्थ के स्पष्टीकरण जहाँ वाचक और लक्षक शब्दों से हमारा काम नहीं चल पाता है, वहाँ व्यंजक शब्दों की सहायता लेनी पड़ती है। अभिधा और लक्षणा का क्षेत्र शब्द तक सीमित है; पर व्यंजना इससे आगे बढ़ कर शब्द और अर्थ दोनों को व्यक्त करती है। जब वक्ता का अभिप्राय श्रोता नहीं समझ पाता है,

तब अर्थ स्पष्टीकरण के लिए व्यंजना व्यापार की आवश्यकता होती है। अतः व्यंजना शक्ति को समझने के लिए अधिकांश काव्य शास्त्र में आये हुए इस प्रसिध्द उदाहरण को ले सकते हैं कि-**'गंगायां घोष'**: अर्थात गंगा पर गाँव है। अविधा से इसका अर्थ होता है कि-गंगा की धारा पर गाँव है; परन्तु धारा पर गाँव होना संभव नहीं है। फलतः निकटता के आधार पर धारा का अर्थ 'तट' ग्रहण करने पर पूरे वाक्य का अर्थ होता है-'गंगा की किनारे में गाँव है। पर कदाचित वक्ता का अभिप्राय अपना गाँव गंगा-तट पर कहना नही है। वह अपना गाँव की शीतलता, पवित्रता और धार्मिकता की व्यंजना के लिए 'मेरा गाँव गंगा में है'- ऐसा कहता है। अतः वक्ता के आशय को स्पष्ट करनेवाले इसी अर्थ-व्यापार को व्यंजना शब्दशक्ति कहते है।

व्यंजना शब्दशक्ति के मुख्यतः दो भेद हैं -

१. शाब्दी व्यंजना और

२. आर्थी व्यंजना।

१. **शाब्दी व्यंजना :** जहाँ व्यंग्यार्थ किसी शब्द विशेष पर आधारित होता है, वहाँ शाब्दी व्यंजना शक्ति होती है। शाब्दी व्यंजना में शब्द का पर्यायवाची रख देने से उसका सौन्दर्य नष्ट हो जाता है। जैसे-

'चिरजीवो जोरी जुरै, क्यों न सनेह गंभीर।
को घटि ये बृषभानुजा, वे हलधर के वीर॥' -बिहारी

इस उदाहरण में 'वृषभानुजा' और 'हलधर' शब्दों में शाब्दी व्यंजना है। इनके स्थान पर दूसरा पर्यायवाची शब्द रख देने से व्यंगार्थ नहीं रहेगा। शाब्दी व्यंजना के भी दो भेद हैं। जैसे-(क) अभिधामूला शाब्दी व्यंजना और (ख) लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना।

२. **आर्थी व्यंजना :** अनजाने व्यंगार्थ की प्राप्ति अभिधा और लक्षणा से होने पर आर्थी व्यंजना होती है। एक उदाहरण देखिए-

'किती न गोकुल कुल-बधू, काहि न किहिं सिखदीन।
कौने तजी न कुल गली, ह्वै मुरली सुर लीन॥'
'किसने कुल-मर्यादा नहीं छोड़ी' अर्थात सभी ने छोड़ी है। इस व्यंग्यार्थ के

कारण यहाँ आर्थी व्यंजना है। आर्थी व्यंजना के भी कई भेद हैं; जैसे–व्याच्या संभवा आर्थी व्यंजना, लक्ष्य सम्भवा आर्थी व्यंजना, व्यंग्य सम्भवा आर्थी व्यंजना।

निष्कर्ष : उपर्युक्त विवेचन से हम कह सकते हैं कि काव्य की रचना में तीनों शब्दशक्तियों का अपना–अपना महत्व है। अभिधा का महत्व इस दृष्टि से है कि–यह दोनों (लक्षणा और व्यंजना) शक्तियों का आधार है। यह सहज अर्थ बोध कराने में भी समर्थ है। काव्यशास्त्रियों ने लक्षणा को काव्य की उत्कृष्टता का आधार बताया है। लाक्षणिक प्रयोग से भाषा में प्रभाव तथा चमत्कार उत्पन्न होता है। व्यंजना शब्दशक्तियों का काव्य में विशेष महत्व है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह शब्द और अर्थ दोनों में रहती है। अत: काव्य में 'अभिधा' को 'अधम काव्य', 'लक्षणा' को 'मध्यम काव्य' और 'व्यंजना' को 'उत्तम काव्य' की संज्ञा दी गयी है। अच्छी और सच्ची कविता में व्यंजना की प्रधानता होती है।

■■■

KHARUPETIA COLLEGE
KHARUPETIA - 784 115
DARRANG :: ASSAM
LIBRARY
DATE DUE
Books should be returned
on or before the due date mentioned below

Due Date	Due Date	Due Date
3/12/16		
6/10/17		
28/9/18		